प्राचीन भारतीय लोककथाएँ

लेखक

वासुदेव शरण अग्रवाल

3103

294

ज्ञानोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक-३

प्राचीन भारतीय लोकधर्म

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय लखनऊ
11 2/66

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय, लखनऊ
क्रम संख्या 3103
प्राप्ति तिथि 11 2/66
State Museum, Library, Lko.

लेखक

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

काशी विश्वविद्यालय

ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद

मुख्य वितरक

पृथिवी प्रकाशन

वाराणसी-५

प्रकाशक

रतिलाल दीपचन्द देसाई
मंत्री, ज्ञानोदय ट्रस्ट
अनेकान्त विहार (श्रेयस् कॉलोनी के पास)
अहमदाबाद-९
(गुजरात राज्य)

मुख्य वितरक

पृथिवी प्रकाशन
B१/१२२, डुमराँव कोठी, अस्सी
वाराणसी-५

294
अ प

अन्य प्राप्ति स्थान

(१ गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय
गांधीमार्ग, अहमदाबाद-१
(२) सरस्वती पुस्तक भण्डार
हाथीखाना, रतनपोल
अहमदाबाद-१

जुलाई : १९६४
आषाढ़ : वि.सं. २०२१
मूल्य : चार रुपये

मुद्रक
तारा प्रिंटिंग वर्क्स,
वाराणसी

आनन्द और आभार

(प्रकाशकीय निवेदन)

भारत में अनेक विद्याओं और शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन तथा नव-नव प्रणयन पुराने समय से प्रचलित था, परन्तु पश्चिम के संसर्ग के बाद इस विद्या-ाली में एक नई दिशा खुली। पुराने शास्त्रीय विषयों के अध्ययन-अध्यापन तथा धन की नवतर प्रवृत्ति के साथ-साथ अनेकविध नई विद्याशाखाओं का भी हुआ। और पहिले जिन विषयों के अध्ययन आदि का पता न था, या ामात्र का पता था, उन विषयों के व्यवस्थित शास्त्र भी बनने लग गये और । पिछले लगभग सवा सौ वर्ष के भीतर भारत में एक ऐसी संशोधनलक्षी द्याप्रवृत्ति शुरू होकर विकसित हुई है, जिसकी ओर देश-विदेशके सभी उच्च-टि के विद्वानों का लक्ष जाता है।

यद्यपि इस नवतर विद्याप्रवृत्ति का बीजवपन प्रधान रूप से पाश्चात्य विद्वानों क्या है, पर फलस्वरूप भारतीय विद्यामानस भी इसमें बहुत रस लेने लगा, से भारतीय पुरातन विद्यासंस्कार पुरानी प्रणालियों के साथ-साथ इस नवतर ली की भी उपासना करने लगा। इस उपासना के परिणामस्वरूप भारत में जुदे क्षेत्र में, जुदे-जुदे विषयों पर, सोचने और लिखने वाला एक खासा वर्ग त्व में आया। इस वर्ग के सभी विद्वान् समान कोटि के नहीं है, फिर भी ा एक हिस्सा ऐसा अवश्य है कि जिसके नाम और काम से दुनियाभर के द्वान् प्रभावित हैं। डॉ० वासुदेव शरणजी का स्थान ऐसे विरल विद्वानों की म पंक्ति में है। उनका संस्कृतज्ञान याचितकमण्डन नहीं है, अतएव प्राकृत-भाषा का परिचय भी उनका मूलगामी है। वे वेद, उपनिषद्, पुराण आदि क समग्र वाङ्मय के अवगाहनशील विद्वान् तो हैं ही, पर साथ ही उन्हें जैन बौद्ध वाङ्मय का परिचय भी पर्याप्त है। राष्ट्रीय भाषा तो उनकी मातृ-भाषा पर भारत के इतर कई प्रान्तों की भाषाओं का भी उन्हें कार्यसाधक परिचय वे पुरातत्त्वीय शाखा के चोटी के सर्वमान्य विद्वान् हैं। उन्होंने मथुरा, ऊ और केन्द्र के म्युजियमों में उच्च पद पर रहकर इतना अधिक काम कि जिससे आकृष्ट होकर काशी विश्वविद्यालय ने कला और पुरातत्त्व के अधिष्ठातारूप से उन्हें नियुक्त किया है। और आजकल वे प्राकृत टेक्स्ट टी के अध्यक्ष हैं। स्वर्गीय राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसादजी इस सोसायटी के (पेट्रन) थे और अब राष्ट्रपति डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् संरक्षक बने

है। डॉ अग्रवाल गोहाटी में होने वाले अखिल भारतीय प्राच्य-विद्या परिषद् के भी अध्यक्ष चुने गये हैं।

उन्होंने हिन्दी और अँग्रेजी भाषा में अनेक विषयों पर अनेक रूप में इतना अधिक लिखा है कि. जिसकी सारी सूची का निर्देश यहाँ किया नहीं जा सकता। उनके लेख, अनुवाद, विवेचन, अवलोकन, नये-नये विषय के अर्थघटन आदि की इतनी अधिक और रोचक साहित्यसामग्री है, कि कभी-कभी मैं अपने मन में उनको एक अर्वाचीन व्यास रूप में देखता हूँ। अहमदाबाद में गुजरात विद्यासभा में उनके व्याख्यान मथुरा की मूर्तिकला के विषय में हुए थे। इससे गुजरात को उनका परिचय तो था ही और उनकी उक्त विशेषता से आकृष्ट होकर मैंने यह प्रयत्न किया कि उन्हें स्वर्गस्थ लोककवि, गान्धीजी के शब्दों में राष्ट्रकवि, श्रीयुत झवेरचन्द मेघाणी की स्मारक व्याख्यानमाला में प्रथम व्याख्याता रूप से आमन्त्रित किया जाय। उन्होंने सन् १९५५ में राजकोट में आकर पाँच व्याख्यान दिये थे। मैं और मेरे मित्र श्रीयुत रतिलाल दीपचन्द देसाई दोनों इन व्याख्यानों के साक्षी रहे।

मेरे मन में चिरकाल से एक संस्कार यह रहा कि सौराष्ट्र और गुजरात में ब्राह्मण, श्रमण और चारण आदि बुद्धिप्रधान और विद्याजीवी एक खासा वर्ग है, पर समय की माँग के अनुसार उस वर्ग का गहरा और नवदृष्टिपूत अध्ययन-संशोधन में अपेक्षाकृत कम हिस्सा रहा है, तो उस दिशा में उनको प्रोत्साहित किया जाय। इस संस्कार के वशीभूत होकर भी मेरा मन डॉ० वासुदेव शरणजी को सौराष्ट्र में उक्त आख्यानों के लिये आमन्त्रित कराने की ओर झुका था।

डॉ० अग्रवालजी के व्याख्यान भारतीय लोकधर्म पर हुए थे। इन व्याख्यानों में उन्होंने भारतीय संस्कृति के उषः काल से लेकर आज तक प्रचलित ऐसे लोक-धर्म और संस्कृतिके अनेक पहलुओं पर इतना अधिक और सारग्राही प्रकाश डाला है, जिसका पूरा खयाल तो इन व्याख्यानों को ध्यानपूर्वक पूरा पढ़ने से ही आ सकता है। डॉक्टर साहब ने इन व्याख्यानों के लिए जो सामग्री संचित की है और जिसका अवलोकन, चिन्तन और अर्थघटन प्रमाणभूत साधनों के द्वारा किया है उसका परिचय स्वयं ये व्याख्यान ही करा देते हैं।

इन व्याख्यानों का गुजराती भाषान्तर लोकभारती-सणोसराके एक प्राध्यापकने किया है। उसे भी मैंने सुना है। थोड़े ही दिनों में वह प्रकाशित हो जायगा। इसके पहिले ही मूल हिन्दी में दिये गये पाँचों व्याख्यान प्रकाशित हो रहे हैं, सो उपयुक्त ही है। गुजराती भाषान्तर की व्याप्ति अधिक से अधिक गुजराती भाषियों तक ही सीमित है, जब कि हिन्दी भाषा की व्याप्ति, राष्ट्रीय भाषा के नाते, सारे

भारत में तो है ही, पर इसके अलावा देशान्तरों में भी राजभाषा के नाते उसका महत्त्व का स्थान है। अतएव प्रस्तुत पुस्तक की उपयोगिता भाषा की दृष्टि से भी अनेकगुनी बढ़ जाती है।

आजकल कालेजों और विश्वविद्यालयों में कला और पुरातत्त्वीय विषयों के अध्ययन-अध्यापन और संशोधन की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई देखी जाती है। उच्च कक्षा के विद्यार्थी तथा प्राध्यापकों की संख्या भी छोटी-मोटी नहीं। पर मेरा सामान्य अवलोकन यह कहता है कि ऐसे विद्यार्थियों तथा प्राध्यापकों में भी तलगामी और व्यापक अध्ययन बहुत कम मात्रा में है। एक तो अँग्रेजी ज्ञान की गहराई कम हो रही है: और दूसरे, संस्कृत-प्राकृत-पाली आदि का अध्ययन भी गहरा नहीं देखा जाता, इससे संशोधनकार्य जितना गहरा, व्यापक और प्रमाणभूत होना चाहिए वैसा कम देखा जाता है। ऐसी दशा में प्राचीन भारतीय लोकधर्म विषयक प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशित हो तो वह इस विषय के अध्येता, अध्यापक और संशोधकवृत्तिवाले विद्वानों के लिए बहुत उपकारक सिद्ध हो सकती है। इसी उदात्त आशय से प्रेरित हो कर श्रीज्ञानोदय ट्रस्ट के ट्रस्टियों ने, ट्रस्ट के उद्देश्य के अनुसार, इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक को प्रकाशित करने का निश्चिय किया है और तदनुसार उसे प्रकाशित करते ट्रस्ट आनन्दानुभव करता है। इस पुस्तक को प्रकाशित करने के लिये श्रीअग्रवालजी ने अनुमति दी एतदर्थं ट्रस्ट उनका आभारी है।

सरित्कुञ्ज, अहमदाबाद—९
ता० १७-६-१९६४ ई०

सुखलाल संघवी
अध्यक्ष, ज्ञानोदय ट्रस्ट।

3103

ज्ञानोदय ट्रस्ट

१९५५ ईसवी के दिसम्बर की ८ वीं तारीख को पूज्य पण्डित श्रीसुखलालजी को ७५वाँ वर्ष पूरा होनेवाला था। पण्डितजी की उत्कट विद्यासाधना, जागरूक जीवन-चर्या और वात्सल्यपूर्ण प्रकृति के कारण सारे देश में कई विद्वान्, श्रीमान्, सामाजिक एवं राष्ट्रीय कार्यकर्ता तथा सामान्य भाई-बहन उनके प्रति श्रद्धा व आदर का भाव रखते हैं। अतः उनके मित्रों, प्रशंसकों और शिष्यों ने सोचा कि इस शुभ अवसर पर सारे देश की ओर से उनका गौरव एवं सम्मान करना चाहिए और इसके लिए देश के विभिन्न प्रदेशों से कम-से-कम ७५ हजार रुपयों की निधि एकत्रित करके उन्हें समर्पित करनी चाहिए।

इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए १९५५ के जून महीने में "पण्डित सुखलालजी सम्मान समिति" की स्थापना की गई। इस समिति के अध्यक्ष हमारी लोकसभा (Parliament) के तत्कालीन अध्यक्ष माननीय गणेश वासुदेव मावलंकर थे; किन्तु उनका स्वर्गवास होने पर तत्कालीन बम्बई राज्य के मुख्य मन्त्री माननीय श्रीमोरारजी भाई देसाई समिति के अध्यक्ष चुने गये। समिति का मुख्य कार्यालय अहमदाबाद में रखा गया और उसकी शाखाएँ बम्बई, कलकत्ता, बनारस, मद्रास, जयपुर, राजकोट आदि शहरों में स्थापित की गई।

समिति ने देश भर में रु० १,०१,१४१-७५ की निधि एकत्रित की और पण्डितजी के गुजराती एवं हिन्दी लेखों तथा निबन्धों का संग्रह करके गुजराती में "दर्शन अने चिन्तन" नामक दो ग्रन्थ और हिन्दी में "दर्शन और चिन्तन" नामक एक ग्रन्थ—इस तरह कुल ढाई हजार से अधिक पृष्ठों के तीन ग्रन्थ प्रकाशित किये। सम्माननिधि २५ रु० या उससे अधिक चन्दा देने वाले सभी महानुभावों एवं संस्थाओं को ये तीन ग्रन्थ भेंट दिये गये।

१५ जून १९५७ को सायंकाल ५ बजे बम्बई यूनिवर्सिटी के कॉन्वोकेशन-हॉल में भारत के तत्कालीन उपराष्ट्रपति तथा विश्वविश्रुत तत्त्वचिन्तक माननीय डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में पण्डितजी के सम्मान का एक भव्य समारोह किया गया। समारोह में डॉ राधाकृष्णन् के कर कमलों से पण्डितजी को पचपन हजार रुपयों की निधि और "दर्शन-चिन्तन" तीन ग्रन्थ समर्पित किये गये। समारोह के पश्चात् एकत्रित हुए पन्द्रह हजार रुपये भी उक्त निधि में समर्पित करने के लिए पण्डितजी को अर्पण किये गये।

इस प्रकार सत्तर हजार रुपये नगद और सम्मान समिति के दाताओं को उपहारस्वरूप देने के उपरान्त 'दर्शन-चिन्तन" की अवशिष्ट प्रतियों का मूल्य ग्यारह

हजार रुपये गिनकर कुल इक्यासी हजार रुपयों का एक ट्रस्ट पण्डितजी ने २१ नवम्बर, १९५७ के दिन स्थापित किया। इस ट्रस्ट का नाम "ज्ञानोदय ट्रस्ट" रखा गया।

उद्देश्य

(१) विद्वानों को योग्य पारिश्रमिक देकर भारतीय संस्कृति, दर्शन और धर्म-विषयक ग्रन्थ तैयार करवाना और उन्हें प्रकाशित करना।

(२) भारतीय संस्कृति, दर्शन और धर्म के विषय को लेकर आगे अध्ययन करने वाले-छात्रों एवं विद्वानों को छात्रवृत्ति का प्रवास व्यय (Travelling-Fellowship) देना।

(३) पण्डित सुखलाल जी के ग्रंथ, लेख और निबन्धों को एकत्रित करके उनका सम्पादन एवं प्रकाशन करना तथा भिन्न-भिन्न भाषाओं में उनका अनुवाद करवाना।

(४) विद्वानों को योग्य पारिश्रमिक देकर भारतीय संस्कृति, दर्शन और धर्म से सम्बन्धित विषयों पर व्याख्यानों की आयोजना करना और उन्हें प्रकाशित करना।

(५) विश्व के विभिन्न देशों के सांस्कृतिक समन्वय एवं मानवता के उत्थान में सहायक होनेवाला मूल या अनूदित साहित्य प्रकाशित करना।

ट्रस्टीमण्डल

(१) पण्डित श्री सुखलाल जी संघवी, अहमदाबाद।
(२) मुनि श्री जिनविजय जी, अहमदाबाद।
(३) श्री परमानन्द भाई कुँवर जी कपड़िया, बम्बई।
(४) श्री चिमनलाल चकुभाई शाह, बम्बई।
(५) श्री पं० दलसुखभाई मालवणिया, अहमदाबाद।
(६) श्री भँवरमल जी सिंघी, कलकत्ता।

[प्रारम्भ में दो साल से अधिक समय के लिए श्री काकासाहेब कालेलकर भी ट्रस्टी रहे।]

ट्रस्ट का पता—अनेकान्तविहार (श्रेयस् कॉलोनी के पास), नवरंगपुरा, अहमदाबाद-९ (गुजरात राज्य)।

श्री झवेरचन्द कालिदास मेघाणी

श्री झवेरचन्द मेघाणी ईसा की बीसवीं शती के गुजरात-सौराष्ट्र के नामी अमर साहित्यकार हो गये। सौराष्ट्र के लोकसाहित्य का उद्धार करके उसे लोकप्रिय, गौरवान्वित एवं प्रतिष्ठासंपन्न बनाने में श्री मेघाणीजी ने जो योगदान दिया वह आज भी अद्वितीय है।

श्री मेघाणीजी सफल, लोकप्रिय एवं भारतविख्यात लोकसाहित्यकार, लोकसाहित्यउद्धारक, उपन्यासकार, कहानीकार, इतिहास-चरित्रलेखक, विवेचक, निबन्धकार, प्रवासवर्णन-लेखक, नाटककार, पत्रकार एवं कवि थे। स्वयं महात्मा गांधी ने उन्हें राष्ट्रीय शायर का विरुद दिया था। जब गान्धी जी सन् १९३२ में राउण्ड-टेबल कॉन्फरेन्स के लिये रवाना होने वाले थे उस समय मेघाणीजी ने अपने "छेल्लो कटोरो झेरनो आ पी जजो बापू" काव्य में महात्माजी के मन का जो हूबहू वर्णन किया था उससे वे बहुत प्रभावित हुए थे।

श्री मेघाणीजी का कण्ठ बुलन्द, सुरीला, मधुर, भावावेशपूर्ण एवं दर्द भरा था। उनके कण्ठ से वीर, शृंगार, करुण आदि रस साक्षात् हो जाते थे। उनके कण्ठ को अपढ़ एवं सुशिक्षित आबालवृद्धकी जनता एकाग्रता, मुग्धभाव व उत्सुकता से घण्टों तक सुना करती थी। ऐसे अवसर पर श्री मेघाणी एक सिद्धहस्त व आदर्श गायक-कवि के रूप में नजर आते थे। गुरुदेव कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर श्री मेघाणी के कण्ठ से लोक साहित्य व अन्य काव्यों को सुनकर खूब प्रसन्न होते थे। श्री मेघाणीजी की सत्त्वशीलतापूर्ण संस्कारिता की एक खास विशेषता यह थी कि उनका परिवार विशाल था और आर्थिक आवश्यकता सदा बनी रहती थी; फिर भी उन्होंने अपने कण्ठ का उपयोग कभी अर्थोपार्जन के निमित्त नहीं किया।

श्री मेघाणी का खुद का नाम झवेरचन्द था। उनके पिता का नाम कालिदास, माता का नाम धोळीबाई एवं मेघाणी उनके कुटुम्ब का उपनाम (Surname) था। धर्म से वे जैन थे। उनका जन्म सौराष्ट्र के झालावाड जिले के चोटीला नामक गांव में वि० सं० श्रावण कृष्ण (मारवाड़ी भाद्रपद कृष्ण) पंचमी मंगलवार तदनुसार ता० १७ अगस्त १८९६ में हुआ था। चोटीला

पांचाल प्रदेश की पथरीली—पहाड़ी भूमि में आया है। मध्ययुग में यह भूमि युद्ध-भूमि रही। श्री कालिदास मेघाणी काठियावाड एजन्सी के पुलिस विभाग में जमादार थे। इस परिवार का मूल वतन-गाँव सौराष्ट्र में बगसरा है।

पिताजी की तबदीली के कारण श्री मेघाणीजी का प्राथमिक शिक्षण राजकोट, दाग, पालियाद आदि स्थानों में व माध्यमिक शिक्षण बढवाण केम्प (वर्तमान सुरेन्द्रनगर), बगसरा, अमरेली आदि स्थानों में हुआ था। भावनगर के शामलदास कॉलेज से वे संस्कृत व अंग्रेजी विषय लेकर सन् १९२६ में २० वर्ष की उम्र में बी० ए० पास हुए।

कुछ समय तक भावनगर में शिक्षक का कार्य करने के पश्चात् वे कलकत्ता में जीवनलाल एण्ड कम्पनी के एंल्यूमिनियम के कारखाने में नौकरी करने चले गये। यहां तनख्वाह भी अच्छी न थी न नौकरी भी सुखचैन की थी। कम्पनी की ओर से इंग्लैण्ड, स्काटलैण्ड आदि का प्रवास करने का भी उन्हें अवसर मिल गया। फिर भी उनका मन वहां नहीं लगा और वे नौकरी छोड़कर अपने वतन बगसरा में रहने चले गये। व्यापार में भी उनका जी नहीं लगा। साहित्यकार की सुषुप्त आत्मा को मानों न नौकरी में रस मिला न व्यापार में रस रहा—उनका हृदय किसी और कार्य के लिये तड़प रहा था। इस बीच सन् १९२२ में उनका प्रथम लग्न श्रीमती दमयन्ती बहन के साथ हुआ।

राणपुर (सौराष्ट्र एजन्सी का गांव) में से श्री अमृतलाल दलपतभाई सेठ "सौराष्ट्र" नामक राष्ट्रीय क्रांतिकारी साप्ताहिक निकालते थे। उसका मुख्य ध्येय देशी राज्यों के खिलाफ लोकमत जाग्रत करनेका था। श्री मेघाणीजी इस समय हृदयानुकूल कार्य की खोज में शून्यमनस्क जैसा समय बिताते थे। उन्होंने दो-एक लेख लिख कर "सौराष्ट्र" के संपादक को भेजे। लेख देखते ही श्री अमृतलाल सेठने श्री मेघाणी की शक्ति को परख लिया, और उन्हें अपने पास बुला लिया। श्री मेघाणजी को मानों मनभावन प्रवृत्ति मिल गई, उनकी सारी प्रवृत्ति को एक नया मोड़ मिल गया। श्री मेघाणी के सफल साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ का वह, वर्ष था सन् १९२२ तब श्री मेघाणी जी पचीस वर्ष—अपनी अर्धआयु पूर्ण कर चुके थे।

इसके बाद श्रीमेघाणीजी की साहित्यिसर्जक प्रतिभा का उत्तरोत्तर अधिक उन्मेष होता रहा, व वे विविध साहित्य कृतिओं में अपनी कलम को बड़ी

सफलता से आजमाते रहे। कहना चाहिये कि इस सब में लोक साहित्य ही उनका प्राण था।

१९३०-३२ के राष्ट्रीय संग्राम में उन्होंने सक्रिय भाग लिया और उन्हें दो साल का कारावास मिला। उनके राष्ट्रीय-स्वातन्त्र्य--संग्राम गीतों ने सारे गुजरात में धूम मचादी।

सन् १९३२ में उनकी प्रथम पत्नी का करुण अवसान हुआ। सन् १९३४ में उन्होंने चित्रा देवी से शादी की।

१९२२ से १९४७ तक पूरे २५ वर्ष वे एक या दूसरे रूप से माता सरस्वती की अखण्ड उपासना करते रहे। कुछ समय के लिये उन्होंने एक संवेदनाशील सहित्यकार की भावना से बम्बई में चित्रपट (फिल्म) क्षेत्र में भी काम किया। पिछले दो साल से वे अपने निवास स्थान (सौराष्ट्र में) बोटाद में रह कर स्वतंत्र रूप से साहित्य सर्जन करने में लगे थे, और उनकी भावना, किसी प्रकाशक या पत्रकार की मांग या मरजी के अनुसार साहित्य सर्जन न करके अपनी मनमौज के अनुसार स्वतंत्र साहित्य सर्जन करने की थी।

पर उनकी यह भावना पूर्ण रूप से सफल हो उससे पहिले ही, सिर्फ ५१ वर्ष की आयु में, ता. ९ मार्च १९४७ के रोज, भगवान ने उन्हें अपने पास बुला लिया।

श्री मेघाणी भाई जितने न्यायप्रिय थे उतने ही निडर भी थे। उनका चेहरा प्रभावशाली, आँखें बड़ी सुहावनी, विशाल एवं आकर्षक थीं। बोलने में वे जितने मृदु व मधुर थे उससे जरा भी कम दृढ न थे। साहस व शौर्य तो उनके रोम-रोम में भरा था। और अपने कार्य को सफल बनाने में व परिश्रम करने में व दिक्कतें उठाने में जरा भी कसर नहीं रखते थे। सौराष्ट्र के लोक साहित्य-संग्रह, संशोधन-संपादन व प्रकाशन के लिये उन्हों ने जो मुसीबतें उठायीं थीं उसका वर्णन करना आसान नहीं। आज भी गुजरात-सौराष्ट्र में इस लोकसहित्य सेवक का स्थान रिक्त ही है।

साहित्य, संगीत व कला को केवल मनोरंजनका साधन मान लिया जाय यह उन्हें कभी मंजूर न था। एक बार भावनगर की किसी महिलासंस्था का उत्सव था। श्रीमेघाणजी उसके अध्यक्ष थे। उनके नाम से स्त्री-पुरुष श्रोताओं

की वहां बड़ी भीड़ लग गई थी। संस्था की मन्त्रिणी एक बहन अपनी रिपोर्ट पढ़कर सुना रही थीं। किन्तु लोग तो श्री मेघाणीजी की वाणी को सुनने की लालच से आये थे। वे एकदम अधीर हो उठे और शोरगुल मचाने लगे। श्री मेघाणी भाई को लोगों का यह वर्ताव एकदम अनुचित लगा। उस बहन ने किसी तरह. अपना वक्तव्य पूरा किया। श्री मेघाणी भाई ने सभाजनों से इतना ही कहा कि आप यहां किसी मनोरंजक कार्यक्रम में नहीं आये किन्तु एक संस्था के वार्षिक समारम्भ में हिस्सा लेने आये हैं। आपको विवेक सीखना चाहिये। बस इतना कहकर वे, मानों लोगों को विवेक का पाठ पढ़ाने के लिये, सभास्थान छोड़कर चले गये, और लोगों के सैकड़ों बार समझाने पर भी वे वापस न लौटे। नारी प्रतिभा व शिष्ट विवेक दोनों ही बातें श्री मेघाणी भाई के अन्तर में कितना आदर रखती थीं यह इससे मालूम हो सकता है।

श्री मेघाणीजो ने विविध विषय की छोटी-बड़ी मिलाकर ८८ जितनी साहित्य कृतियां जनता को भेंट दी हैं। और आज भी ये कृतियां उतना ही लोक आदर पाती हैं। इस अक्षर देह ने श्री मेघाणी भाई को लोकजीवन व लोकहृदय में अमर बना दिया।

- मैट्रिक (S. S. C.) की परीक्षा सन् १९१२ में अमरेली से पास की।
- पहेली पुस्तक 'कुरबानी नी कथाओं' सन् १९२२ में प्रकट हुई।
- लोक साहित्य की सेवा के उपलक्ष में सन् १९२८ का श्री रणजितराम सुवर्णचन्द्रक उन्हें दिया गया।
- सन्. १९४६ की राजकोट में हुई गुजराती साहित्य परिषद् के साहित्य विभाग के अध्यक्ष चुने गये।
- लोक साहित्य के लिये भाट, चारण, बारोट, ग्रामीण स्त्री-पुरुष, काठी एवं राजपूत राजकर्ता गण, प्रकृति तथा पुरातत्त्वीय अवशेषों से श्री मेघाणीजी का गाढ़ा संपर्क रहा।

श्री झवेरचन्द मेघाणी की साहित्य-कृतियों की विषय एवं सालवार सूची

लोककथा

१.	डोशीमानी वातो		१९२३
२.	सौराष्ट्रनी रसधार	(भा. १)	१९२३
३.	”	(भा. २)	१९२४
४.	”	(भा. ३)	१९२५
५.	”	(भा. ४)	१९२७
६.	”	(भा. ५)	१९२७
७.	कंकावटी	(भा. १)	१९२७
८.	दादाजीनी वातो		१९२७
९.	सोरठी बहारवटिया	(भा. १)	१९२७
१०.	”	(भा. २)	१९२८
११.	कंकावटी	(भा. २)	१९२८
१२.	सोरठी संतो		१९२८
१३.	सोरठी बहारवटिया	(भा. ३)	१९२९
१४.	सोरठी गीतकथाओ		१९३१
१५.	पुरातन ज्योत		१९३८
१६.	रंग छे बारोट		१९४५

लोकगीत

१.	रढियाळी रात	(भा. १)	१९२५
२.	”	(भा. २)	१९२६
३.	”	(भा. ३)	१९२७
४.	चूंदडी	(भा. १)	१९२८
५.	हालरडां		१९२८
६.	चूंदडी	(भा. २)	१९२९
७.	ऋतुगीतो		१९२९
८.	रढियाळी रात	(भा. ४)	१९४२

९. सोरठी संतवाणी १९२७

१०. सोरठिया दुहा १९४७

नवलकथा (उपन्यास)

१. सत्यनी शोधमां १९३२

२. निरंजन १९३६

३. वसुंधरानां वहालां-दवलां १९३७

४. सोरठ, तारां वहेतां पाणी १९३७

५. समरांगण १९३८

६. अपराधी १९३८

७. वेविशाळ १९३९

८. रा' गंगाजळियो १९३९

९. वीडेलां द्वार १९३९

१०. गुजरातनो जय (खंड १) १९३९

११. तुलसीक्यारो १९४०

१२. गुजरातनो जय (खंड २) १९४२

१३. प्रभु पधार्या १९४३

१४. काळचक्र (अधूरी) १९४७

नवलिकाओ (कहानी संग्रह)

१. कुरबानीनी कथाओ १९२२

२. मेघाणीनी नवलिकाओ (भा. १) १९३१

३. दरियापारना बहारवटिया १९३२

४. जेल ऑफिसनी बारी १९३४

५. प्रतिमाओ १९३४

६. मेघाणीनी नवलिकाओ (भा. २) १९३५

७. माणसाइना दीवा १९४५

८. विलोपन १९४६

९. पलकारा

लेखसंग्रह

१. वेरानमां १९३५

२. परिभ्रमण (भा. १) १९४४

३. सांवेलाना सूर १९४४
†४. परिभ्रमण (भा. २) १९४७
†५. " (भा. ३) १९४७
६. परकम्मा सन् १९४५ † अवसान के बाद प्रकाशित।

जीवनकथा

१. बे देशदीपक १९२७
२. ठक्करबापा १९३९
३. मरेलांनां रुधिर १९४२
४. अकबरनी यादमां १९४२
५. आपणुं घर १९४२
६. पांच वर्षनां पंखीडां १९४२
७. आपणा घरनी वधु वातो १९४२
८. दयानंद सरस्वती १९४४

नाटक

१. राणो प्रताप १९२३
२. राजाराणी १९२६
३. शाहजहां १९२७
४. वंठेलां १९३९

इतिहास

१. एशियानुं कलंक १९२३
२. हंगेरीनो तारणहार १९२७
३. मिसरनो मुक्तिसंग्राम १९३०
४. सळगतुं आयर्लैण्ड १९३१
५. भारतनो महावीर पाडोशी १९४३
६. ध्वजमिलाप १९४३

आत्मकथन

१.	परकम्मा	१९४६
२.	छेल्लुं प्रयाण	१९४७
‡३.	लि. स्नेहाधीन झवेरचंद (मेघाणीना पत्रो)	१९४८

‡ अवसान के बाद प्रकाशित

गीतो-काव्यो

१.	वेणीनां फूल	१९२८
२.	किल्लोल	१९३०
३.	युगवन्दना	१९३५
४.	एकतारो	१९४०
५.	बापुनां पारणां	१९४३
६.	रवीन्द्र-वीणा	१९४४

प्रवास

१.	सौराष्ट्रनां खंडेरोमां	१९२८
२.	सोरठने तीरे तीरे	१९३३

विवेचन

१.	लोकसाहित्य	१९३९
२.	लोकसाहित्य-पगदंडोनो पंथ	१९४२
३.	चारणो अने चारणी साहित्य	१९४३
४.	धरतीनुं धावण	१९४४
५.	लोकसाहित्यनुं समालोचन	१९४६

अध्याय १

श्री मेघाणी जी

श्री झवेरचन्द जी मेघाणी जिनकी पुण्यस्मृति में सौराष्ट्रशासन ने इस व्याख्यानमाला के लिये मुझे आमन्त्रित किया है, गुणवन्ती गुजरात के विशाल क्षेत्र में फैले हुए लोकसाहित्य, लोकसंस्कृति और लोकवार्त्ता के प्रतीक बन गए हैं। उनके कार्य का यश गुजरात से बाहर भी इस देश के चारों खण्डों में फैल गया है। उत्तरापथ की लोक-संस्कृति के संग्रह, कल्याण और पुनरुद्धार में रुचि लेते हुए अनायास ही मेघाणी जी का नाम मेरे सुनने में आया। गुजराती लोकसाहित्य के लिए मेघाणी जी ने अपना जीवन समर्पित कर दिया। कहा जाता है कि पचीस वर्ष के अपने साहित्यिक जीवन में उन्होंने लगभग नब्बे ग्रंथ लिखे। वे स्वयं उच्चकोटि के कवि थे। कवि का स्फूर्तिशील मन और सरस हृदय जो प्रकृति ने दृढ़ शरीर के साथ उन्हें सौंपा था, उस सारी विभूति को उन्होंने माता पृथिवी के चरणों में समर्पित कर दिया। वे सच्चे अर्थों में पृथिवीपुत्र थे। 'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः' अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त का यह बीज मन्त्र मेघाणी जी के मन में बस गया था। उनके जीवन की प्रेरणा भूमि, भूमि पर बसने वाले जन और उस जन की संस्कृति इन तीन स्रोतों से आती थी। भूमि, जन, संस्कृति इस त्रिकोण के भीतर जितना जीवन का विस्तार है, वही लोक है। मेघाणी जी ने स्वयं अपने नेत्रों से लोक का साक्षात् दर्शन किया। वेदव्यास के अनुसार—

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः। (उद्योग० ४३।३६, पूना सं०)

अर्थात् जो लोक को स्वयं अपनी आँख से देखता है, वही उसे पूरी तरह देख पाता है। लोक का प्रत्यक्षदर्शन ही उसके समग्रदर्शन की कुंजी है। मेघाणी जी के जीवन का यही तेजस्वी सूत्र था। गुजरात और सौराष्ट्र की तिल-तिल भूमि की प्रदक्षिणा उन्होंने अपने पैरों से की थी। ग्राम, जनपद, नदी, वन, पर्वत इन स्थानों में स्वयं जाकर उन्होंने जिस लोकसाहित्य का संग्रह किया और उपलब्ध सामग्री को अपनी रचनात्मक शक्ति से जिस प्रकार नए रूप में प्रस्तुत किया, वह उनके सौराष्ट्रनी रसधार, सोरठी गीतकथा, सोरठना बहार बटिया, रढ़ियाली रात, चूँदड़ी, हालरण ऋतुगीत, गिरि-विहार, सोरठने तीरे-तीरे, कंकावरी लोकसाहित्य, धरती नू धावण, चारण अने चारणी साहित्य इत्यादि

प्रसिद्ध ग्रंथों में सुरक्षित है। इस विशेष अवसर पर मैं श्री मेघाणी जी के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ। मेरी यह हार्दिक अभिलाषा है कि उन्होंने जिस कार्य का आरम्भ किया था, उसकी स्थायी परम्परा का निर्माण हो और न केवल गुजरात में, बल्कि देश के अन्य भागों में भी लोकसाहित्य और लोकवार्ता शास्त्र के सर्वांगीण अध्ययन का संगठित रूप में स्थायी प्रबन्ध हो।

भारतीय संस्कृति की विविधता और एकता

भारतीय लोकसंस्कृति में सबसे विचित्र और विविध अंग उसकी धार्मिक परम्परा है। इस परम्परा का इतिहास पाँच सहस्र वर्ष पुराना है। पृथिवीसूक्त के ऋषि के अनुसार यह हमारी मातृभूमि अनेक प्रकार के जन को धारण करती है। यह जन अनेक प्रकार की भाषाएँ बोलने वाला है और नाना धर्मों को मानने वाला है—जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम् (अथर्व० १२।१।४५)। जन की विविधता भारतीय जीवन का अभिभावी सत्य है। इसी के साथ भाषाओं के भेद और धर्मों के भेद जातीय जीवन की सामूहिक विविधता को और बढ़ा देते हैं, किन्तु भारतवर्ष की अन्तरात्मा लोक की इस विविधता से कभी भी खिन्न या आक्रान्त नहीं हुई। यहाँ के मनीषियों ने विविधता के मूल में छिपी हुई एकता को खोज निकाला और अनेक प्रकार से इसी एकता पर बल दिया है। एकता का प्रतिपादक समन्वयात्मक दृष्टिकोण ही भारतीय संस्कृति का मुख्य दृष्टिकोण है।

धार्मिक क्षेत्र में समन्वय

समन्वयप्रधान जीवनपद्धति का सबसे अधिक प्रभाव धर्म के क्षेत्र में देखा जाता है। आर्य संस्कृति, द्रविड़ संस्कृति, निषाद संस्कृति और किरात संस्कृति इन अनेक संस्कृतियों के समन्वय से इस देश की महान धार्मिक परंपरा का निर्माण हुआ। इस क्षेत्र में आदान प्रदान की मात्रा इतनी अधिक है कि किसी एकदेव का मूलस्वरूप क्या था, किस प्रकार वह और सूत्रों को समेटता हुआ विकास को प्राप्त हुआ और अन्त में देश और काल दोनों की विस्तृत अवधि में फैलकर वह किस रूप में आज मान्य हो रहा है, इसका विवेचन अत्यन्त कठिन हो गया है। फिर भी तुलनात्मक विवेचन से जब इस विषय का अनुसंधान किया जाता है, तो अत्यन्त रोचक सामग्री सामने आती है। जिस प्रकार लोकभाषा का अध्ययन हमारी शिष्ट साहित्यिक भाषा को बल प्रदान करता है एवं उसके अनेक छिपे हुए तथ्यों पर प्रकाश डालता है, उसी प्रकार लोक में प्रचलित धर्मों और जनविश्वासों का अध्ययन भी लोक संस्कृति के प्राचीन तथ्यों को अधिक स्पष्टता से सामने लाता है। इस समय भारतीय लोक में बीरब्रह्म

की मान्यता प्रचलित है। उसकी प्राचीन परम्परा, मान्यता, पूजा-पद्धति और उससे सम्बन्धित अन्य विषयों पर इन व्याख्यानों में हम विचार करना चाहते हैं। आज भी बंगाल से लेकर गुजरात तक और हिमालय से लेकर दक्षिण के तमिल प्रदेश तक किसी न किसी रूप में बीरब्रह्म की पूजा पाई जाती है। प्राचीन काल में जिसे यक्ष पूजा कहते थे उसी की परम्परा बीरब्रह्म की पूजा में है। प्राचीन साहित्य, कला और धर्म इन तीनों क्षेत्रों में यक्ष-विषयक मान्यता ने अपना प्रभाव डाला था। ब्राह्मण धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म इन तीनों धर्मों पर यक्षपूजा का प्रभाव पड़ा। आचार्य श्री आनन्दकुमारस्वामी ने इस विषय पर सर्व प्रथम प्रकाश डाला था। उनके प्रदर्शित मार्ग से किन्तु और भी परिवर्द्धित सामग्री की सहायता लेते हुए इस विषय का यहाँ प्रतिपादन किया जायगा।

वैदिक देवता और लोक देवता

वैदिक देवता और लोक देवता इन दोनों के मेल-जोल की प्रक्रिया वैदिक युग में ही आरम्भ हो गई थी। जीवन के इस तथ्य की साक्षी वैदिक साहित्य में उपलब्ध होती है। अथर्ववेद के एक सूक्त में बड़ी स्वाभाविक रीति से वैदिक देवों के साथ अन्य लोक देवताओं का अनौपचारिक उल्लेख पाया जाता है। उनके नामों के परिगणन में कोई क्रम नहीं है। दोनों एक दूसरे के साथ मिल गए हैं। सूक्त का ऋषि जब अपने समकालीन देवताओं के विषय में सोचने लगा तो लोक और वेद दोनों ही कोटियों के देव उसके दृष्टिपथ में एक साथ उतिराने लगते हैं। उनका जो मिलाजुला क्रम सूक्त में आया है, वह इस प्रकार है—

१. अग्नि,
२. वनस्पति,
३. ओषधि,
४. वीरुध्,
५. इन्द्र,
६. बृहस्पति,
७. सूर्य,
८. वरुण,
९. मित्र,
१०. विष्णु,
११. भग,
१२. अंश,
१३. विवस्वान्,
१४. सविता,
१५. पूषा,
१६. त्वष्टा,
१७. गन्धर्व,
१८. अप्सरायें,
१९. अश्विनी,
२०. ब्रह्मणस्पति,
२१. अर्यमा,
२२. अहोरात्र,
२३. सूर्य,
२४. चन्द्र,
२५. आदित्य,
२६. वात,
२७. पर्जन्य,
२८. अन्तरिक्ष,
२९. दिशा,
३०. आशा,
३१. उषा,
३२. सोम,
३३. भव,
३४. शर्व,
३५. रुद्र,
३६. पशुपति,

३७. द्युलोक,
३८. नक्षत्र,
३९. भूमि,
४०. यक्ष,
४१. पर्वत,
४२. समुद्र,
४३. नदी,
४४. सरोवर (वेशन्त),
४५. सप्तर्षि,
४६. जल (आपः),
४७. प्रजापति,
४८. यम,
४९. पितृ,
५०. द्युलोक-अन्तरिक्ष-पृथिवी के देव
५१. आदित्य रुद्र वसु,
५२. रक्षस,
५३. सर्प,
५४. पुण्यजन,
५५. मृत्यु,
५६. ऋतु,
५७. ऋतुपति,
५८. मास,
५९. संवत्सर,
६०. दक्षिण-पश्चिम-पूर्व-उत्तर के विश्वेदेव,
६१. उनकी पत्नियाँ,
६२. भूत,
६३. भूतपति,
६४. पंच दिशाओं की देवियाँ,
६५. द्वादश ऋतुओं के देव इत्यादि

(अथर्व, ११।६।१–२३, पापमोचन सूक्त)।

देवी-देवताओं की यह सूची उस बिरादरी या बन्धुत्व का संकेत करती है, जिसमें ऊँच-नीच के भेदभाव के बिना देवों का सब समाज एक स्थान में इकट्ठा हुआ। इसमें एक ओर अग्नि, इन्द्र, बृहस्पति, मित्र, वरुण, विष्णु, भग, सविता, पूषा, त्वष्टा, अर्यमा, सोम आदि टकसाली वैदिक देवता हैं जिनकी पद-प्रतिष्ठा बहुत ऊँची थी, वहीं दूसरी ओर यक्ष, राक्षस, सर्प, पुण्यजन, भूत आदि उस कोटि के छुटभैये देवता भी हैं, जिनका सम्बन्ध आदिम जातियों से था। भूमि, पर्वत, नदी, समुद्र और नक्षत्र ये भूमि सम्बन्धी देवता थे, जिनकी परम्पराएँ लोक में और साहित्य में पाई जाती हैं।

देवताओं के मेले (यात्रा या मह)

लोक में प्रतिवर्ष समय समय पर देवी-देवताओं के मेले जुड़ते थे और उत्सव हुआ करते थे। ऐसे मेलों की पद्धति लोक में अभी तक चालू है। हर एक जनपद या प्रदेश में ऐसे मुख्य मेलों की छानबीन की जाए, तो प्रत्येक मेले के पीछे किसी पुराने देवी-देवता की पूजा कारण रूप में पाई जाएगी। प्राचीन काल में ऐसे मेलों को 'मह' कहते थे। काशिका के एक उदाहरण में गंगाजी के बड़े मेले को गंगामह कहा गया है (सूत्र ५।१।१०९)। इस तरह का मेला उत्तरभारत में गंगाजी के किनारे बहुत से स्थानों में आज भी लगता है। 'मह' शब्द यद्यपि संस्कृत में भी प्रयुक्त हुआ है, किन्तु उसका मूल वैदिक 'मख' ज्ञात होता है। हरिवंश के कई हस्तलेखों में 'मख' और 'मह' दोनों पाठान्तर मिलते हैं (हरिवंश २।१५।५)। किन्तु तो भी मह शब्द ही इस अर्थ में अधिक प्रचलित था। उच्चधर्म या द्विजातियों के जीवन में जो स्थान वैदिक यज्ञों का था, लोक के जीवन में वही स्थान मह नामक उत्सवों का था। हरिवंश पुराण में कृष्ण द्वारा गोवर्द्धन उठाये जाने की लीला को

गिरिमह और गिरियज्ञ दोनों शब्दों से कहा गया है—स्थित: शक्रमहस्तात श्रीमान् गिरिमहस्त्वयं (हरि० २।१७।११); तन्मह्यम् रोचते गोपा गिरियज्ञ: प्रवर्तताम् (हरि० २।१६।१०)। इसी प्रसङ्ग में इसका स्पष्ट उल्लेख है कि ब्राह्मण जिस प्रकार मन्त्रों द्वारा यज्ञ करते हैं, उसी प्रकार किसान हल द्वारा सीतायज्ञ और गोप लोग गोपालन द्वारा गिरियज्ञ करते हैं—

> मंत्रयज्ञपरा विप्रा: सीतायज्ञाश्च कर्षुका: ।
> गिरियज्ञास्तथा गोपा इज्योऽस्माभिर्गिरिर्वने ॥ हरि०, २।१६।६

आर्थिक जीवन और सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न स्तरों में जीवन की जो प्रणाली होती है उसी का यहाँ स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

लोकदेवताओं की सूचियाँ

इस प्रकार के मह या उत्सवों की सूचियाँ प्राचीन साहित्य में मिलती हैं। जैनग्रन्थ णायाधम्मकहा (ज्ञाताधर्मकथा) के अनुसार वह इस प्रकार है—

१. इंदमह = इन्द्रमह
२. खंदमह = स्कन्दमह
३. रुद्दजत्ता = रुद्रयात्रा
४. सिवजत्ता = शिवयात्रा
५. वेसमणजत्ता = वैश्रवणयात्रा
६. नागजत्ता = नागयात्रा
७. जक्खजत्ता = यक्षयात्रा
८. भूयजत्ता = भूतयात्रा
९. नईजत्ता = नदीयात्रा
१०. तलावजत्ता = तड़ागयात्रा
११. रुक्खजत्ता = वृक्षयात्रा
१२. चेइयजत्ता = चैत्ययात्रा
१३. पव्वयजत्ता = पर्वतयात्रा
१४. उज्जाणजत्ता = उद्यानयात्रा
१५. गिरिजत्ता = गिरियात्रा[1]

एक दूसरी इससे भी बड़ी सूची रायपसेणिय सुत्त (राजप्रश्नीय सूत्र कंडिका) में आई है—

१. इन्दमह
२. खंदमह
३. रुद्दमह
४. मउन्दमह
५. सिवमह
६. वेस्समणमह
७. नागमह
८. जक्खमह
९. भूयमह
१०. थूभमह
११. चेइय = चैत्यमह
१२. रुक्ख = वृक्षमह
१३. गिरिमह
१४. दरीमह
१५. अगडमह (अवटमह)
१६. नईमह = नदीमह
१७. सरमह
१८. सागरमह

---

१. अज्जरायगिहे नगरे इंदमहे इ वा खंदमहे इ वा एवं रुद्द-सिव-वेसमण-नाग-जक्ख-भूय-नई-तलाय-रुक्ख-चेइय-पव्वय-उज्जाण-गिरि-जत्ताइ वा जओ णं पहवे उग्गा भोगा जाव एगदिसिं एगाभिमुहा निग्गच्छति, णायाधम्मकहा, १, २९, वैद्यसंस्करण, पृ० २३।

इनके अतिरिक्त दो विशिष्ट सूचियाँ बौद्ध साहित्य में भी पाई जाती हैं, एक सुत्तनिपात की निद्देस नामक व्याख्या में और दूसरी मिलिन्दपञ्ह में। निद्देस में इन देवताओं के पूजने और मानने वालों को व्रतिक (पालि वतिक) कहा गया है। वह सूची इस प्रकार है—

१. हत्थिवतिक	८. पुण्णभद्दवतिक	१५. महाराजवतिक
२. अस्सवतिक	९. मणिभद्दवतिक	१६. चन्दिमवतिक
३. गोवतिक	१०. अग्गिवतिक	१७. सूरियवतिक
४. कुक्कुरवतिक	११. सुपण्णवतिक	१८. इन्दवतिक
५. काकवतिक	१२. यक्खवतिक	१९. ब्रह्मावतिक
६. वासुदेववतिक	१३. असुरवतिक	२०. देववतिक
७. बलदेववतिक	१४. गन्धब्बवतिक	२१. दिसावतिक[1]

मिलिन्दपञ्ह में इन देवताओं के मानने वाले आचार्यों के अनुयायियों को 'गण' कहा गया है। किन्तु उस सूची के मूल में भी तथ्य वही है अर्थात् इस प्रकार के कितने ही छोटे-मोटे देवताओं की पूजा लोक में प्रचलित थी। मिलिन्दपञ्ह की सूची इस प्रकार है—

१. पब्बता	४. पिसाचा	८. सूरिय
२. धम्मगिरिया = धर्मगिरीय	५. मणिभद्दा	९. कालिदेवता
	६. पुण्णभद्दा	१०. सिवा = शिव
३. ब्रह्मगिरिया	७. चन्दिम	११. वसुदेवा[2]

इसी प्रकार की एक छोटी सूची मानव गृह्य सूत्र २, १४ में भी पाई जाती है। उसमें देवताओं के नाम ये हैं—

१. यक्ष	२. जम्भक	३. विरूपाक्ष
४. लोहिताक्ष	५. वैश्रवण	६. महासे
७. महादेव महाराज।		

---

१. सन्तेके समणब्राह्मणा वतसुद्धिका। ते हत्थिवतिका होन्ति। अस्स-गो-कुक्कुर-काक-वासुदेव-बलदेव-पुण्णभद्द-मणिभद्द-अग्गि-नाग-सुपण्ण-यक्ख-असुर-गन्धब्बा-महाराज-चन्दिम-सूरिय-इन्द-ब्रह्मा-देव-दिसाव्रतिका होन्ति। महानिद्देस, १, पृ० ८९ एवं ३१०।

२. मल्ला अतोणा पब्बता धम्मगिरिया ब्रह्मगिरिया नटका नच्चका लंघका पिसाचा मणिभद्दा पुण्णभद्दा चन्दिमसूरिया सिरिदेवता कालिदेवता सिवा वसुदेव घनिका असिपासा भद्दिपुत्ता तेसं तेसं रहस्सं तेसु तेसु गणेसु येव चरन्ति अवसेसानं पिहितं। मिलिन्दपञ्ह, वाडेकर संस्करण, पृ० १९०।

इसके अतिरिक्त विभिन्न उद्धरणों में निम्नलिखित नाम और भी मिलते हैं—

१. अज्जामह = आर्यामह (आर्या स्कन्द की माता का नाम था)
२. कोट्टकिरियामह (कोट्टक्रिया या कोट्टवै, जो तमिल देश की बड़ी देवी थी)
३. धनुर्मह
४. काममह
५. ब्रह्ममह (विराटपर्व १२, आदिपर्व १५२,१८)
६. रैवतकमह (आदिपर्व, २११, २)

मज्झिमनिकाय में गोव्रत और कुक्कुरव्रत का, जो निद्देस की सूची में भी हैं, विशेष उल्लेख आया है। गोव्रत के अनुयायी अपने सिर पर सींग बाँधते थे और गायों के साथ घास चरते हुए घूमते थे। इसी तरह कुक्कुरव्रत पालने वाले सब कुछ कुत्ते के जैसा व्यवहार करते थे[1]।

इस प्रकार के लोकदेवताओं के विश्वास को 'व्रत' या भक्ति कहा गया है। जैसे बुद्ध और महावीर या मक्खलिगोसाल के अनुयायी अपने अपने गण या गच्छों में संगठित थे, वैसे ही इन दूसरे देवताओं के अनुयायी भी अपने-अपने गणाचार्यों के अधीन रह कर जीवन बिताते थे। इन लोगों का ऐसा विश्वास था कि जिस देवता की भक्ति की जायगी, कालान्तर में वे उसी देवता का रूप ग्रहण करेंगे (देवो वा भविस्सति देवञ्जतरो वा, मज्झिम निकाय, १,३८८)।

भगवद्गीता में लोकदेवता

इन लोक देवताओं की परम्परा का उल्लेख गीता में भी आया है। वहाँ भी उनकी पूजा-मान्यता के लिए 'व्रत' शब्द प्रयुक्त हुआ है—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ ९।२३

इन देवताओं का व्रत पालन करने वाले व्रतिक, अथवा इनकी भक्ति करने-वाले भक्त अथवा इनका भजन करने वाले अथवा मह या उत्सव के रूप में इनकी यात्रा करने वाले—इन विभिन्न नामों के पीछे एक ही भाव था। गीताकार ने इन देवताओं की लम्बी सूची देते हुए उन सबको भगवान् की विभूति या नानारूप कह-

---

१. गोव्रतिकोति समादिन्नगोवतो सीसे सिंगानं ठपेत्वा नंगट्ठं बंधित्वा गावी सद्धिं तिणानि खादन्तो विय चरति। कुक्कुरवतिकोति समादिन्न-कुक्कुरवतो सब्बं सुनककिरियं करोति। मज्झिमनिकाय, पपंचसूदनी, भाग ३, पृ० १००।

कर समन्वय किया है, किन्तु ध्यान से देखने पर यह बात तुरन्त समझ में आ जाती है कि इन विभूतियों के रूप में लोक-देवताओं की ही गिनती गिनाई गई है। वह इस प्रकार है—

१. विष्णु	७. वैश्रवण (वित्तेश)	१३. अश्वत्थ वृक्ष = रुक्खदेवता
२. रवि	८. अग्नि = पावक	
३. मरीचि	९. मेरु	१४. गन्धर्व
४. चन्द्र (शशी)	१०. स्कन्द	१५. उच्चैःश्रवा अश्व
५. इन्द्र (वासव)	११. सागर	१६. ऐरावत गज
६. रुद्र	१२. हिमालय	१७. कामधेनु
१८. काम (कन्दर्प)	२१. वरुण	२७. मकर
१९. वासुकि सर्प (तुलनीय वासुकी नाग के मानने वाले कालबेलिए)	२२. पितर	२८. नदी गंगा (जाह्नवी)
	२३. यम	२९. वासुदेव
	२४. सिंह	३०. धनंजय अर्जुन
	२५. गरुड़	
२०. नाग(अनन्त नामक)	२६. वायु (पवन)	(गीताध्याय १०, विभूतियोग)

ये जो बिखरे हुए देवता थे इन सबकों समेट कर गीताकार ने माला के मनकों की भाँति एक सूत्र में पिरो दिया है और भागवतों के महानारायण विष्णु के साथ धार्मिक दृष्टि से इन्हें सम्बद्ध कर दिया है। भागवत धर्म की यह बड़ी देन थी। उसमें किसी देवी या देवता का निराकरण नहीं किया गया बल्कि सबको भगवान् विष्णु का एक ही रूप मान लिया गया।

विष्णुधर्मोत्तर में लोकदेवों की सूची

यह स्वाभाविक है कि लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अपना-अपना देवता चुन लेते हैं। जो जिसको रुचता है, वह उसका देवता बन जाता है। उसी में उसके मन की भक्ति या पूरी शक्ति लग जाती है। इस प्रकार के देवता को भागवतों ने 'रोचदेवता' यह नई संज्ञा दी—

ब्रह्मन्स्त्रीयस्य च रुचौ देवतायाश्च पूजनम्।

—विष्णुधर्मोत्तर, ३।२२२।२८

रोच नामक देवताओं की सूची में रोच शब्द का भी बहुत व्यापक अर्थ किया गया है, जो गुप्तयुग के भागवत धर्म की उदार भावना के अनुकूल था। उदाहरण के लिए रोचदेवताओं की सूची इस प्रकार है—

१. ब्राह्मरोच (प्रजापति ब्रह्मा के पूजन से ब्रह्मलोक की प्राप्ति और अश्वमेध का फल मिलता है)

२. स्वर्गरोच

३. चक्ररोच (विष्णु के द्वादशार सुदर्शन चक्र के पूजन से भीतरी और बाहरी समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त होती है)

४. वानस्पत्यरोच (इस देवता की पूजा से उद्यान-फल प्राप्त होता है)

५. अन्नरोच (इससे अन्न की प्राप्ति और धान्य से हरे-भरे खेतों की प्राप्ति होती है)

६. अहतवासररोच (अर्थात् ब्राह्म मुहूर्त या उषःकाल की आराधना से और अपने पूरे दिन को भगवान् विष्णु के लिए समर्पण करने से आरोग्य, रूप, तारुण्य और सौभाग्य की प्राप्ति होती है)

७. कालरोच (इससे मनुष्य मृत्यु के प्रति सावधान होकर धर्मवित् बन जाता है)

८. आग्नेयरोच (अर्थात् अग्निदेवता की पूजा से उसे समस्त अग्निकर्म या यज्ञादि सिद्ध होते हैं)

९. जलरोच (इससे जल से उत्पन्न मुक्तादि और कमल से भरे हुए सरोवर मनुष्य सिद्ध करता है)

१०. सूर्यरोच (इससे निरोगिता प्राप्त होती है)

११. चन्द्ररोच (चन्द्र पूजा से परम शान्ति मिलती है)

१२. गोरोच (गौ की अर्चना से कामधेनु जैसी गौएँ घर में आती हैं)

१३. नियतिरोच (इससे दीर्घ जीवन प्राप्त होता है)

१४. विष्णुरोच (इससे विष्णुलोक की प्राप्ति का अधिकारी बनता है)

१५. रुद्ररोच (इससे रुद्रलोक की पात्रता होती है)

१६. कुमाररोच (इससे पुत्र-पौत्रादि से गृह भरा-पूरा हो जाता है)

१७. पितृरोच (पितरों की पूजा करने से अभीष्ट फल मिलता है)

१८. वरुणरोच (वरुण की पूजा से यथेष्ट अश्वों की प्राप्ति होती है)

१९. अनन्तरोच (पृथिवी को धारण करनेवाले भगवान् अनन्त की पूजा करने से अनन्त फल मिलता है)

२०. वायुरोच (इससे वाणिज्य में लाभ की प्राप्ति होती है)

२१. यमरोच (यम की पूजा से नरक का भय नहीं रहता)

२२. सारस्वतरोच (देवी सरस्वती की आराधना से यथेष्ट विद्या मिलती है और मनुष्य वाग्मी बन जाता है)

२३. श्रीरोच (देवी श्री लक्ष्मी की पूजा से उत्तम श्री की प्राप्ति होती है)

२४. वैश्रवणरोच (कुबेर की पूजा से व्यक्ति प्रत्येक जन्म में धनवान् बनता है)

२५. शैलरोच (यह पूर्व सूचियों का गिरिपूजन या गिरिमह ही है। पर्वत के पूजन से व्यक्ति सुखी होता है। इसका तात्पर्य यही है कि इस भावना का व्यक्ति पर्वतों में प्रतिवर्ष भ्रमण करके सुखी होगा)

२६. भूरोच (पृथिवी को देवता मान कर उसकी आराधना से भूमि की प्राप्ति होती है)

२७. वेदरोच (वेदों में पूज्य बुद्धि रखने से मनुष्य में वेदज्ञान का उदय होता है और यज्ञों की सम्प्राप्ति होती है)

२८ पौरुषरोच (इससे तात्पर्य पुराण पुरुष, अनादि, अनन्त, अव्यक्त भगवान् नारायण, प्रजापति अथवा सर्व विश्व के कारण देवाधिदेव परब्रह्म की उपासना से है, जिसके फलस्वरूप मोक्ष-पथ की संप्राप्ति होती है)

यह भी कहा गया है कि अपनी यथेष्ट रुचि के अनुसार देवता चुनकर उसका रोचव्रत ग्रहण करना चाहिए और प्रतिदिन केवल रात्रि में भोजन करते हुए एक वर्ष तक व्रत का निर्वाह करना चाहिए। आहार काल के अतिरिक्त जल भी न लेना चाहिए।

इसी पुराण में इसके अतिरिक्त दो प्रकार की धार्मिक क्रिया कही गयी है—एक अन्तर्वेदि या यज्ञों का करना, और दूसरी बहिर्वेदि जिसमें देवताओं की पूजा आती है। अन्तर्वेदि या यज्ञ धनवानों के लिए है और बहिर्वेदि या देव पूजन निर्धनों के लिए सम्भव है। फिर प्रश्न किया गया कि देवता कितने हैं ? (देवताः कश्च कस्मिन्नु काले संपूजयेत् सदा, विष्णुधर्मोत्तर, ३, २२१, ७)। यह सूची इस प्रकार है—

१. ब्रह्मा	१२. रति	२३. दस विश्वेदेव
२. दक्ष प्रजापति	१३. श्रद्धा	२४. गन्धर्व और उनका राजा चित्ररथ
३. नासत्य	१४. कीर्ति	
४. बालचन्द अर्थात् शिव	१५. मेधा	२५. देवपत्नियाँ
५. बारह साध्यदेवता	१६. सरस्वती	२६. अप्सराएँ
६. तीन-लोक	१७. प्रज्ञा	२७. नागदेवता
७. विष्णु	१८. तुष्टि	२८. पुष्कर (जल)
८. बारह भृगु देवता	१९. कान्ति	२९. नलकूबर (कुबेर के पुत्र)
९. यम	२०. देवमातृकाएँ	
१०. गणेश	२१. चन्द्रमा	३०. श्री
११. निद्रा देवी	२२. पृथिवी देवी	३१. प्रीति

यहाँ ३ देवियों की सूची दी गई है जिन में से कुछ नाम पहले आ चुके हैं और शेष ये हैं—

३२. उमा
३३. मेना
३४. भद्रकाली
३५. कात्यायनी
३६. धृति
३७. स्वाहा
३८. स्वधा
३९. ऋद्धि
४०. अनसूया
४१. क्षमा
४२. सुभीमा
४३. देवसेना
४४. वेला
४५. ज्योत्स्ना
४६. शची
४७. गौरी
४८. वरुणानी
४९. यमपत्नी
५०. धूमोर्णा
५१. सुमहाभागा
५२. मृत्युच्छाया

अपनी रुचि के अनुसार किसी भी देवमातृका का या देवपत्नी का पूजन किया जा सकता है। इसके अनन्तर चार महापशुओं को देवभाव से पूजने का उल्लेख है।

५३. ऐरावत
५४. उच्चैःश्रवा
५५. शिव का नन्दी वृष
५६. विष्णु का गरुड़

इन के विषय में यह उल्लेखनीय है कि ये चार महा आजानेय पशु अशोक के सारनाथ शीर्षक पर अंकित हैं (वहाँ गरुड़ की जगह सिंह है)। इन चार पशुओं की देवरूप में मान्यता सिंधुघाटी से लेकर आज तक लोक में चली आई है, जैसा हमने विस्तार से अपने 'चक्रध्वज' नामक ग्रंथ में सप्रमाण उल्लेख किया है।

५७. नागदेवता

५८-६१. कुमार-स्कन्द-विशाख-गुह (स्कन्द के इन चार रूपों को चतुरात्मा कहा गया है।)

६२. ऋतुएँ
६३. स्कन्द के पार्श्वचर
६४. रुद्र के पार्श्वचर
६५. यम के पार्श्वचर
६६. काल
६७. पाश
६८. ज्वरव्याधीश्वर
६९. वायु
७०. अग्नि
७१. सूर्यपत्नी सुवर्चला
७२. उच्छ्वास मरुत् देवता
७३. पर्वत देवता
७४. अभीष्ट नदीदेवता
७५. सप्तर्षि
७६. समुद्र

७७. द्वीप (समुद्र और द्वीपों का यह उल्लेख गुप्तकालीन सामुद्रिक व्यापार की भावना का संकेत करता है। पूर्व और पश्चिम के समुद्रों में अथवा द्वीपान्तर के अनेक द्वीपों में जिसे जो अभीष्ट होता था, वह अपने व्यापार के लिए उसी का ध्यान करता था)

७८. सप्तपाताल
७९. सप्तलोक
८०. सप्तगंगाएँ
८१. सप्तसरस्वती
८२. सप्तयज्ञ
८३. आदित्य
८४. इन्द्रपुत्र जयन्त
८५. अष्टवसु
८६. एकानंशा
८७. महादेव
८८. वीरभद्र
८९. नन्दीश्वर
९०. लगुडेश या लकुलीश्वर
९१. धर्म
९२. एकादश रुद्र
९३. बारह आदित्य जलाधिप

९४. वरुण	९९. राक्षस	१०४ नव ग्रह
९५. देवेश्वर (इन्द्र)	१००. शंख	१०५. नक्षत्र
९६. विष्णु	१०१. पद्म	१०६. द्वादश मास
९७. कामदेव	१०२. मणिभद्र	१०७. कार्त्तिकेय
९८. यक्ष	१०३. पितृगण	१०८. वनस्पति

इस प्रकार लगभग वर्ष भर के लिए अपने अपने इष्टदेवों की आराधना या व्रत पालन का एक क्रम बताया गया है (इष्टं देवमथाभ्यर्च्य यथेष्टं फलमश्नुते, विं०धर्मो०, ३, २२२, १–१०७)।

मत्स्यपुराण में दो सौ देवियों की सूची

लोकदेवताओं का एक भरापूरा चित्र मत्स्यपुराण (१७९, १०–३२) की उस सूची से भी प्राप्त होता है, जिसमें लगभग २०० देवियों के नाम किसी पुराण-लेखक ने बड़े परिश्रम से एकत्र किए हैं। जो इस प्रकार हैं—

१ माहेश्वरी	२१. पिच्छिला	४१. दूती
२. ब्राह्मी	२२. भगमालिनी	४२. सुभगा
३. कौमारी	२३. बला	४३. दुर्भगा
४. मालिनी	२४. अतिबला	४४. कराली
५. सौपर्णी	२५. रक्ता	४५. नन्दिनी
६. वायव्या	२६. सुरभी	४६. अदिति
७. शाक्री	२७. मुखमण्डिका	४७. दिति
८. नैऋंती	२८ मातृनन्दा	४८. मारी
९. सौरी	२९. सुनन्दा	४९. मृत्यु
१०. सौम्या	३०. बिडाली	५०. कर्णमोटी
११. शिवा	३१. शकुनी	५१. ग्राम्या
१२. दूती	३२. रेवती	५२. उलूकी
१३. चामुण्डा	३३. महारक्ता	५३. घटोदरी
१४. वारुणी	३४. पिलपिच्छिका	५४. कपाली
१५. वाराही	३५. जया	५५. वज्रहस्ता
१६. नारसिंही	३६. विजया	५६. पिशाची
१७. वैष्णवी	३७. जयन्ती	५७ राक्षसी
१८. चलच्छिखा	३८. अपराजिता	५८. भुशुण्डी
१९. शतानन्दा	३९. काली	५९. शांकरी
२०. भगानन्दा	४०. महाकाली	६०. चण्डा

६१. लाङ्गली
६२. कुटभी
६३. खेटा
६४. सुलोचना
६५. धूम्रा
६६. ऐकवीरा
६७. करालिनी
६८. विशालदंष्ट्रिणी
६९ श्यामा
७०. त्रिजटी
७१ कुक्कुटी
७२. वैनायकी
७३. वैताली
७४. उन्मत्तोदुम्बरो
७५. सिद्धि
७६. लेलिहाना
७७. केकरी
७८. गर्दभी
७९. भृकुटी
८०. बहुपुत्री
८१. प्रेतयाना
८२. विडम्बिनी
८३. क्रौञ्चा
८४. शैलमुखी
८५ विनता
८६. सुरसा
८७. दनु
८८ उषा
८९. रम्भा
९० मेनका
९१. सलिला
९२. चित्ररूपिणी
९३. स्वाहा

९४. स्वधा
९५. वषट्कारा
९६. धृति
९७. कपर्दिनी
९८. माया
९९. विचित्ररूपा
१००. कामरूपा
१०१. संगमा
१०२ मुखेविला
१०३. मंगला
१०४ महानासा
१०५. महामुखी
१०६. कुमारी
१०७. रोचना
१०८. भीमा
१०९. सदाहा
११०. मदोद्धता
१११. अलम्बाक्षी
११२ कालकर्णी
११३. कुम्भकर्णी
११४. महासुरी
११५. केशिनो
११६. शंखिनी
११७ लम्बा
११८. पिङ्गला
११९. लोहितामुखी
१२०. घण्टारवा
१२१ दंष्ट्राला
१२२. रोचना
१२३. काकजङ्घिका
१२४. गोकर्णिका
१२५ अजमुखिका
१२६. महाग्रीवा

१२७. महामुखी
१२८. उल्कामुखी
१२९. धूमशिखा
१३०. कम्पिनी
१३१. परिकम्पिनी
१३२. मोहना
१३३. कल्पना
१३४. क्ष्वेला
१३५. निर्भया
१३६. वाहुशालिनी
१३७. सर्पकर्णी
१३८. एकाक्षी
१३९. विशोका
१४०. नन्दिनी
१४१. ज्योत्स्नामुखी
१४२ रभसा
१४३. निकुम्भा
१४४. रक्तकल्पना
१४५. अविकारा
१४६. महाचित्ता
१४७. चन्द्रसेना
१४८. मनोरमा
१४९. अदर्शना
१५०. हरत्पापा
१५१. मातङ्गी
१५२. लम्बमेखला
१५३. अबाला
१५४. वञ्चना
१५५ काली
१५६. प्रमोदा
१५७. लाङ्गलावती
१५८ चित्रा
१५९. चित्रजला

१६०. कोणा	१७३. कटुमुखी	१८६. महानादा
१६१. शान्तिका	१७४. क्रोधिनी	१८७. महादेवी
१६२. अघविनाशिनी	१७५. अशनी	१८८. महोदरी
१६३. लम्बस्तनी	१७६. कुटुम्बिका	१८९. हुंकारी
१६४. लम्बसटा	१७७. मुक्तिका	१९०. रुद्रसुसटा
१६५. विसटा	१७८. चन्द्रिका	१९१. रुद्रेशी
१६६. वासचूर्णिनी	१७९. बालमोहिनी	१९२ भूतडामरी
१६७. स्खलन्ती	१८० सामान्या	१९३. पिण्डजिह्वा
१६८. दीर्घकेशी	१८१. हासिनी	१९४. चलज्ज्वाला
१६९. सुचिरा	१८२. लम्बा	१९५. शिवा
१७०. सुन्दरी	१८३. कोविदारी	१९६. ज्वालामुखी
१७१. शुभा	१८४, सवासवी	१९७. ज्येष्ठा(= अलक्ष्मी)
१७२. अयोमुखी	१८५. शंकुकर्णी	

आरण्यक पर्व में देवी सूची

महाभारत के आरण्यक पर्व में भी लोक की कुछ छोटी देवियों के नाम इस प्रकार हैं—

१. काकी	४. वृहली	६. पलाला
२. हालिमा	५. आर्या	७. मित्रा
३. रुद्रा		

इन सातों को बच्चों की माताएँ कहा गया है और इनके एक पुत्र को, जो स्कन्द की कृपा से उत्पन्न हुआ, लोहिताक्ष नाम दिया है (आरण्यक, २१७, ९—१०)।

पुराणों में और भी कई सूचियाँ प्राप्त होती हैं। इन देवों की पूजा का उल्लेख कई दृष्टियों से है। कहीं इन्हें 'विभूति' कहा गया है, कहीं इनके 'व्रत' का उल्लेख है, कहीं 'भक्ति' का, कहीं जैसा ऊपर कहा गया है, इन्हें 'रोच' यह संज्ञा प्रदान की गई है। इसी प्रकार वामनपुराण के प्रवरानुकीर्तन में एक सूची है, जिसमें प्रत्येक जाति के प्रवर या श्रेष्ठ व्यक्ति या तत्त्व का उल्लेख करते हुए अनेक देवी-देवताओं का भी परिगणन किया गया है (वामन पुराण)

प्राकृत ग्रन्थ अंगविज्जा में देवी-देवताओं की दो सूचियाँ

प्राचीन देवी-देवताओं की दो लम्बी सूचियाँ 'अङ्गविज्जा' नामक जैनग्रंथ में आई हैं। यह पुस्तक महाराष्ट्री प्राकृत भाषा में है और लगभग कुषाणकाल

की है। पहली सूची जो देवता-विजय अध्याय (५१ पृ० २०४–६) में है, इस प्रकार है—

१. यक्ख
२. गन्धव्व
३. पितर
४. प्रेत
५. वसु
६. आदित्य
७. अश्विन
८. सारस्वत
९. अप्सरा
१०. वैश्रवण
११. नक्षत्र
१२. ग्रह
१३. चन्द्र
१४. तारा
१५. बलदेव
१६. वासुदेव
१७. शिव
१८. स्कन्द
१९. विशाख
२०. अग्नि
२१. मारुत
२२. सागर
२३. नदी
२४. अग्नि
२५. इन्द्राग्नि
२६. ब्रह्मा
२७. उपेन्द्र
२८. गिरि
२९. यम
३०. वरुण
३१. सोम
३२. रात्रि
३३. दिवस
३४. श्री
३५. ऐराणी
३६. पृथिवी
३७. एकणासा (एकानंशा)
३८. नवमृगा
३९. सुरादेवी
४०. नागी
४१. असुर
४२ सुपर्ण
४३. द्वीपकुमार
४४. समुद्रकुमार
४५. दिशाकुमार
४६. अग्निकुमार
४७. वायुकुमार
४८ स्तनितकुमार
४९. विद्युत्कुमार
५०. पिशाच
५१. भूत
५२. यक्ष
५३. राक्षस
५४. चन्द्र सूर्य
५५. ग्रहगण
५६. नागी
५७. सेणावती
५८. वह्नि
५९. राक्षसी
६०. पिशाची
६१. भूतकन्या
६२. गन्धर्वकन्या
६३. किन्नर
६४. किन्नरी
६५. यक्षिणी
६६. वनस्पतिकन्या
६७. पर्वतदेवता
६८. समुद्र-नदी-कूप-तडाग-पल्वलदेवता
७०. श्री
७१. बुद्धि
७२. मेधा
७३. लता देवता
७४. वासुदेवता
७५. नगरदेवता
७६. श्मशानदेवता
७७. वर्चस्देवता
७८. उक्कुरुडिकदेवता
७९. उत्तम मज्झिम पच्चवर (प्रत्यवर अर्थात् निचले देवता)
८०. आर्य देवता
८१ म्लेच्छ देवता

इस प्रकार की एक विस्तृत पृष्ठभूमि में सब प्रकार के देवी-देवताओं की गिनती की गई है।

ऐसे ही अध्याय ५८ में भी देवों की एक सूची है। जैसे—

१. वैश्रवण	२४. सरस्वती	४६. यम
२. विष्णु	२५. यक्षी	४७. वरुण
३. रुद्र—शिव	२६. राक्षसी	४८. सोम
४. विशाख	२७. अप्सरा	४६. इन्द्र
५. स्कन्द	२८. गिरिकुमारी	५०. पृथिवी
६. कुमार	२६. समुद्र	५१. दिशाकुमारी
७. ब्रह्मा	३०. समुद्रकुमार	५२. श्री
८. बलदेव	३१. समुद्रकुमारी	५३. मेधा
६. वासुदेव	३२. द्वीपकुमार	५४. बुद्धि
१०. प्रद्युम्न	३३. द्वीपकुमारी	५५. कुलदेवता
११. पर्वत	३४. व्याघ्र	५६. वास्तुदेवता
१२. नाग	३५. सिंह	५७. वर्चस्देवता
१३. सुपर्ण	३६. हस्ति	५८. श्मशानदेवता
१४. नदी	३७. वृषभ	५६. पितृदेवता
१५. आर्या	३८. ब्रह्मा	६०. विद्याधर
१६. ऐराणी	३६. चन्द्र	६१. विद्यासिद्ध
१७. मातृका (माऊ)	४०. आदित्य	६२. चारण
१८. शकुनि (सौनी)	४१. ग्रह	६३ विद्याधरी
१६. एकानंशा	४२. नक्षत्र	६४. सर्वविद्या देवता
२०. श्री	४३. तारागण	६५. देवविद्या
२१. बुद्धि	४४. मारुत	६६. देव विद्याधिपत्ति
२२. मेधा	४५. वातकन्या	६७. महर्षि
२३. कीर्ति		

इनके अतिरिक्त देवताध्याय में जो पहले कह चुके हैं, उसके अनुसार देवताओं की कल्पना करनी चाहिए। इनमें कुछ दिव्य, कुछ मानुषी और कुछ साधारण हैं। (अङ्गविजा पृष्ठ २२३–२२४)

वायुपुराण अध्याय नौ में देवी सूची

वायुपुराण में भी देवियों की एक सूची आयी है। जो इस प्रकार है—

१. स्वाहा	६. सरस्वती	११. हैमवती
२. स्वधा	७. अपर्णा	१२. षष्ठी
३. महाविद्या	८. एकपर्णा	१३. कल्याणी
४. मेधा	६. पाटला	१४. ख्याति
५. लक्ष्मी	१०. उमा	१५. प्रज्ञा

१६. महाभागा	२८. भूतनायिका	३९. परमब्रह्मचारिणी
१७. गौरी	२९. गौतमी	४०. माहेन्द्री
१८. आर्या	३०. कौशिकी	४१. इन्द्रभगिनी
१९. प्रकृति	३१. चण्डी	४२. वृषकन्या
२०. नियता	३२. कात्यायनी	४३ एकवाससा
२१. रौद्री	३३. सती	४४. अपराजिता
२२. दुर्गा	३४. कुमारी	४५ सिंहवाहिनी
२२. भद्रा	३५. यादवी	४६. एकानंशा
२४. प्रमाथिनी	३६. वरदा	४७. माया
२५. कालरात्रि	३७. बर्हिर्ध्वजा	४८. महिषमर्दिनी
२६. महामाया	३८. शूलधरा	४९. भद्रकाली
२७. रेवती		

यहाँ स्पष्ट कहा है कि यथार्थ में दो ही महादेवियाँ हैं एक प्रज्ञा, अर्थात् सरस्वती और दूसरी श्री या लक्ष्मी; किन्तु लोक में इन्हीं दोनों के रूपों में सहस्रों देवियाँ फैली हुई हैं—

महादेवीकुले द्वे तु प्रज्ञा श्रीश्च प्रकीर्त्यते ।
आभ्यां देवीसहस्राणि यैर्व्याप्यमखिलं जगत् ॥
(वायुपु० ९-८५-९८)

काश्यपसंहिता, रेवतीकल्प की देवी सूची

काश्यपसंहिता के रेवतीकल्प में भी लगभग कुषाणकालीन देवियों की एक अच्छी सूची पाई जाती है—

१. रेवती	१२. स्तम्भनी	२२. भद्रकाली
२. जातहारिणी	१३. पोषणा	२३. रौद्री
३. पिलिपिच्छिका	१४. नाकिनी	२४. वर्धिका
४. रौद्री	१५. पिशाची	२५. असाध्या
५. वारुणी	१६. यक्षी	२६. पुण्यजनी
६. उग्ररेवती	१७. वारुणी	२७. पौरुषादिनी
७. शुष्करेवती	१८. षष्ठी	२८. संदंशी
८. कटम्भरा	१९. भीरुका	२९. करकोटकी
९. विकुटा	२०. याम्या	३०. इन्द्रवडवा
१०. दारुणा	२१. मातङ्गी	३१. वडवामुखी
११. मोहिनी		

इस प्रकार रेवतीकल्प के अन्तर्गत नाना प्रकार की दिव्य और मानुषी रेवती-देवियों की सूची पायी जाती है, उन्हें बच्चों की देवियाँ होने के कारण जातहारिणी संज्ञा दी गई है। यह भी कहा गया है कि इन देवियों के और भी भेद थे, जैसे—प्रत्येक जाति की अलग-अलग जातहारिणी देवी थीं। इसी प्रकार देश भेद से लगभग २६ प्रकार की जातहारिणी देवियाँ कही जाती थीं, जैसे—

१. सूत,	८. मुष्टिक,	१५. खश,	२२. नेमक,
२. मागध,	९. मेद,	१६. शक,	२३. आभरिक,
३. वेन,	१०. डौम्ब,	१७. यवन	२४. हूण,
४. कुक्कस,	११. उवाक,	१८ पह्लव,	२५ पार्षक,
५. अम्बष्ठ,	१२. द्रमिड़,	१९. तुषार,	२६. किरात,
६ प्राच्यक,	१३. सिंहल,	२०. कम्बोज,	२७. शवर,
७. चण्डाल,	१४. ओड्र,	२१. आवन्त्य,	२८. शम्बर।

इस प्रकार आस्तिक, निषाद, वर्णसंकर, देशी-विदेशी अनेक लोगों की देवियों की मान्यता उस युग में थी। विदेशों के लोग यहाँ आकर समाज में रहते हुए अपनी-अपनी देवियों को पूजते रहते थे। इसी प्रकार अलग-अलग जाति और पेशों की भी छोटी-छोटी देवियाँ थीं। उनके नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं।

१. अयस्करी जातहारिणि (लोहारों की देवी)	६. कुविन्दी (कोलियों की देवी)
२ तक्षिणी (बढ़इयों की देवी)	७. सौचकी (दर्जियों की देवी)
३. कुलाली (कुम्हारों की देवी)	८. रजकी (रंगरेजों की देवी)
४. पदकरी (चमारों की देवी)	९. नेजिका (धोबियों की देवी)
५. मालाकारी (मालियों की देवी)	१०. गोपी (ग्वालों की देवी)

इस प्रकार पेशेवरों में अपनी-अपनी देवियाँ थीं, जिनका सामान्य नाम कारुकी जातहारिणी था। आजतक गाँवों में इन पेशेवरों की अलग अलग माताएँ पूजी जाती हैं।

(काश्यपसंहिता, रेवतीकल्प, पृष्ठ १५३–१६२)

इनके अतिरिक्त शकुनी, चतुष्पदी, सर्पा, मत्सी, वनस्पति ये पाँच भेद और बताये गये हैं और इनके भी अनेक उपभेद और रूप कहे गये हैं।

इस प्रकार के देवी-देवता प्रायः प्रत्येक देश में पाये जाते हैं और इस देश में भी उनकी संख्या कम न थी। उनमें से कुछ का उल्लेख प्राचीन साहित्य और

कला में बच गया है। जैसे भरहुत के स्तूप में कुछ यक्ष और देवियों के नाम इस प्रकार हैं—

सुपवस यखो, विरुढक यखो, गंगित यखो, सुचिलोम यखो, कुपिरो यखो, अजकालको यखो, सुदसना यखी, चन्दा यखी, सिरिमा देवता, चुलकोका देवता, महाकोका देवता।

प्रस्तुत ग्रन्थ में अत्यन्त प्राचीन कुछ लोकदेवताओं को चुनकर उनके 'मह' नामक उत्सवों का विशेष अध्ययन किया गया है।

3103

अध्याय २

धनुर्मह

धनुर्मह एक विशेष प्रकार के उत्सव का आयोजन था, जिसमें योद्धा या वीर लोग धनुष के आरोपण द्वारा अपने बल की परीक्षा देते थे। इतिहास के धुँधले युग में आदिमवासी जातियों में इस प्रकार के बलकौशल की प्रथा का अनुमान किया जा सकता है। शारीरिक बल का अभ्यास करनेवाली अन्य जातियों में भी इस प्रकार की प्रथा होगी। मथुरा के यादवों में भी इस प्रकार के धनुर्मह की प्रथा थी। कंस ने अक्रूर द्वारा कृष्ण को मथुरा बुलाने की जो योजना बनाई उसमें यही कहा—"हे अक्रूर, तुम व्रज में जाकर व्रजवासियों से कहो कि राजा ने आनन्द के अवसर पर धनुर्मख का आयोजन किया है और उसमें कृष्ण बलराम को बुलाया है" (राजा धनुर्मखं नाम कारयिष्यति वै सुखी।—हरिवंश २।२२।९१)। अक्रूर ने नन्द गोप के घर जाकर गोपवृद्धों की सन्निधि में कृष्ण और बलराम से यही कहा—"हे तात, व्रज के सब गोपाल कल वार्षिक कर लेकर मथुरा जाएँगे। कंस की ऐसी ही आज्ञा है। वहाँ कंस ने बड़े ठाठबाट से 'धनुर्मह' का आयोजन कराया है। तुम स्वजनों के साथ चल कर उसे देखो" (समृद्धस्तत्र कंसस्य भविष्यति धनुर्महः। तं द्रक्ष्यथ समृद्धं च स्वजनैश्च समेष्यथ ।। हरिवंश २।२६।४)। वस्तुतः धनुर्मह नामक उत्सव का शिवपूजा के साथ सम्बन्ध था। प्राचीनकाल में शिव देवता की सार्वजनिक पूजा के साथ ही धनुर्मह का आयोजन किया जाता था। आगे कहा गया है कि कंस ने मथुरा में पिनाकी शिव को लक्ष्य कर के महोत्सव की योजना की थी (कस्यचित् त्वथ कालस्य मथुरायां महोत्सवम्। पिनाकिनं समुद्दिश्य चक्रे कंसो नराधिपः ।। हरिवंश २।१०१।६४)। प्राचीनकाल के इस प्रकार के महोत्सवों को 'समाज' भी कहते थे। जिस स्थान पर 'समाज' उत्सव किया जाता था वह रंग या रंगवाट कहा जाता था। उस रंगवाट की भूमि में पौर जानपद जन के बैठने के लिए सहस्रों मञ्चातिमञ्च बनाए जाते थे। एक ओर राजा के बैठने के लिये ऊँचा विमानाकृति मञ्च बनाया जाता था, जिसे विमान कहते थे (हरिवंश २।१०१।५४-५८)। समाज के अवसर पर अनेक प्रकार के विनोदों का आयोजन किया जाता था। नाच, गान, मल्लप्रदर्शन तथा प्रेक्षण या तमाशे समाज के अवसर पर होते थे (तत्र मल्लाः समाजग्मुर्नानादेश्या विशांपते। नर्तना गायनाश्चैव कुशला नृत्यकर्मसु ।। हरिवंश २।१०१।५५)। कंस के समाज महोत्सव में ये सब आमोद-प्रमोद थे, किन्तु उसमें मुख्य 'धनुर्मह' ही था। समाज

के अवसर पर जनता की आमोदप्रवृत्ति उच्छृङ्खल भी हो जाती थी। उसमें मधुपान और मांसभोजन तथा पशुयुद्ध और वेश्याओं के नृत्य आदि के कारण समाज का स्तर गिर गया। इसका प्रमाण अशोक के उस लेख से मिलता है जिसमें उसने समाज को निन्दनीय बताकर समाज न करने का आदेश दिया है—

नो पि चा समाजे कटविये बहुका हि दोसा समाजसा देवानं पिये पियदसी लाजा दखति। अथि पि चा एकतिया समाज साधुमता देवानं पियसा पियदसिसा लाजिने। (कालसी का प्रथम शिलालेख)

अशोक के समय में दो प्रकार के समाज थे, एक में बहुत से दोष या बुराइयाँ थीं, दूसरे 'साधु' या निर्दोष रीति से मनवहलाव करनेवाले समाज थे। समाज शब्द के अर्थ के विषय में विद्वानों में पहले काफी मतभेद रहा। भंडारकर ने महाभारत, हरिवंश और बौद्ध ग्रन्थों के प्रमाण देकर यह सिद्ध किया कि साधु समाजों में नृत्य-गान और खेल-कूद होते थे, जब कि दूसरे प्रकार के समाजों में हिंसा का भी समावेश था (इण्डियन ऐंटिक्वेरी, १९१३, पृ० २५५)। टामस के मतानुसार समाज एक प्रकार का अखाड़ा या रंगवाट था, जिसमें पशुओं के द्वन्द्व-युद्ध का प्रदर्शन किया जाता था (रायल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका, १९१४, पृ० ३९२)। श्री ननिगोपाल मजूमदार के अनुसार समाज में केवल प्रेक्षणक या नाटक का प्रदर्शन होता था। कामसूत्र और जातकों में समाज की यही विशेषता पाई जाती है (इण्डिअन् ऐंटीक्वेरी, १९१८, पृ० २२१)। वस्तुतः समाज नामक उत्सवों के विषय में ये सभी मत समीचीन हैं। समाज का क्षेत्र बहुत व्यापक था और उसमें ये सब बातें सम्मिलित थीं। किसी भी मनोविनोद के साधन या धार्मिक पूजा-उत्सव को कारण बनाकर समाज का आयोजन किया जा सकता था।

कंस ने जिस समाज का निमन्त्रण भेजा था उसे उसने धनुर्मह कहलाया। शिव की पूजा उसका उद्देश्य था। ज्ञात होता है कि समाज-उत्सव की प्रतिष्ठा के समय शिव देवता की पूजा प्रधान रूप से की जाती थी। शिव-पूजा से गहरा सम्बन्ध रखनेवाला उनके धनुष् का उत्सव था। धनुष-बाण से युद्ध करने वाली जातियाँ उस अस्त्र को अत्यन्त पवित्र मानती थीं। उनका विश्वास था कि धनुष किसी महान् देवता का प्रसाद है; जो उस जाति के पूर्वजों को प्राप्त हुआ था। राजघराने में परम्परा से उस धनुष की रक्षा की जाती थी। कंस के धनुष को दिव्य कहा गया है (द्रष्टुं धनुर्महं दिव्यं राष्ट्रं चैव महर्धिमत्। हरिवंश २।२७।३२)। आकार में वह धनुष औरों की अपेक्षा बहुत बड़ा होता था। हरिवंश में उसे स्तम्भ के समान और महत् कहा गया है (२।२७।४४)। उसे

राजकीय आयुधागार के समीप ही विशेष स्थान में रक्खा गया था, जिसे धनुर्गृह या धनु:शाला कहा है (२।२७।४१,५१,५४)। उसकी रक्षा के लिये धनु:पाल नामक रखवाले नियुक्त रहते थे। कंस के धनुर्मह में यह अवसर ही न आया कि कृष्ण-बलराम सार्वजनिक प्रदर्शन में उसे झुकाते या चढ़ाते। समाज से एक दिन पहले ही धनु:शाला में पहुँच कर उन्होंने उसे ऐसे तोड़ डाला, जैसे हाथी गन्ने को तोड़ डालता है (२।२७।६१)। जैसे ही कंस को समाचार मिला उसने अगले दिन के लिये नियत वास्तविक समाजविधि करने की आज्ञा दी और तब उसमें मुष्टिक, चाणूर के साथ कृष्ण-बलराम के मल्लयुद्ध का प्रदर्शन हुआ।

कृष्ण के साथ सम्बन्धित धनुर्मह की इस कथा के सूत्र रामायण में भी मिलते हैं। सीता स्वयंवर के समय जनक ने जो धनुर्यज्ञ किया था, वह भी वस्तुतः 'धनुर्मह' नामक उत्सव ही था। वह धनुषरत्न जनक के पूर्वजों को मख में देवताओं से मिला था (तद्धि पूर्वं नरश्रेष्ठ दत्तं सदसि दैवतैः। अप्रमेयबलं घोरं मखे परम भास्वरम् ॥ बालकांड ३१।८)। उस अद्भुत धनुष का आरोपण ही मुख्य पराक्रम था। देव, गन्धर्व, असुर, यक्ष, किन्नर, महोरग, राक्षस—इनमें से कोई भी उस धनुष का आरोपण न कर सका (बाल० ३१।६, ६७।६)। वह देवदेव शिव का धनुष था (६६।८ शैवं धनुः ; ६६।१२)। जब दक्ष के यज्ञ में देवों ने शिव को भाग नहीं दिया, तब क्रुद्ध होकर शिव ने जिस अस्त्र से देवों का गर्व चूर्ण किया, वह यही शैवधनु था (६६।१०)। रामायण में भी उसे 'दिव्यधनु' कहा गया है (६७।१४)। यह धनुष मिथिला के राजाओं के घर में वंशपरम्परा से चला आता था। धूप-दीप-गंध से उसकी पूजा होती थी। वह 'आयागभूत' था। इसका तात्पर्य यही है कि उसके द्वारा 'धनुर्यज्ञ' का आयोजन किया जाता था। राम ने उस धनुष को खींच कर चढ़ा दिया और अपने इस पराक्रम से वे वीर्यशुल्का राजकन्या सीता को वरने के अधिकारी हुए। सम्भव है अति प्राचीन प्रथा में धनुर्मह के साथ किसी सुन्दरी कन्या के वरण की भी रीति रही हो। द्रौपदी के स्वयम्वर में भी धनुष चढ़ा कर लक्ष्यविशेष का वेध कर के कन्या प्राप्त करने की ही बात मुख्य है। इन तीनों के मूल में धनुर्मह नामक प्राचीन उत्सव की परम्परा ही लक्षित होती है।

अध्याय ३

गिरिमह

जातियों की आरम्भिक, जीवनयात्रा का अध्ययन करनेवाले विद्वानों का अभिमत है कि आदिम जनसमुदाय पहले गोपालन द्वारा अपना निर्वाह करता था। उसके उत्तरकाल में कृषि द्वारा जीवन निर्वाह की विधि का विकास हुआ। हरिवंशपुराण में किसानों द्वारा मनाये जानेवाले सीतायज्ञ और ग्वालों द्वारा मनाये जानेवाले गिरियज्ञ का उल्लेख आया है, जिसका संकेत ऊपर हो चुका है (हरिवंश २।१६।६, सीतायज्ञाश्च कर्षुकाः गिरियज्ञास्तथा गोपाः)। किसानों का सीतायज्ञ या खेती का यज्ञ इन्द्रमह से सम्बन्धित था, जैसा हम आगे देखेंगे। किन्तु गिरियज्ञ या गिरिमह उस स्थिति का सूचक था, जिसमें जन गोपालन द्वारा अपनी आर्थिक स्थिति का समाधान करता था। हरिवंशपुराण में कृष्ण के गोवर्धन धारण की बड़ी सुसंगत व्याख्या पाई जाती है। वहाँ इस लीला का वर्णन लोकजीवन की पृष्ठभूमि में किया गया है।

जब कृष्ण बलराम वन में निवास कर रहे थे, तब वर्षा की समाप्ति पर उन्होंने सुना कि व्रज के गोप उत्सव के लिए लालायित हैं और वे शक्रमह की तैयारी कर रहे हैं। कृष्ण को बड़ा कुतूहल हुआ। उन्होंने पूछा—'यह शक्रमह क्या है जिसके लिए आप इतने हर्षित हैं?' (कोयं शक्रमहो नाम येन वो हर्ष आगतः। हरिवंश २।१५।३)। एक बूढ़े गोप ने कहा—हे तात, इसमें इन्द्रध्वज की पूजा की जाती है। इन्द्र देवों का राजा है। यह उसी का नित्य होनेवाला उत्सव है। वही मेघों से कृषि के लिए जल देता है। इसीलिए बरसात में राजा लोग, अन्य सब मनुष्य और हम भी इन्द्रमह नामक उत्सवों द्वारा इन्द्र की पूजा करते हैं—

> तत्रवृद्धतमस्त्वेको गोपो वाक्यमुवाच ह।
> श्रूयतां तात शक्रस्य यदर्थं ध्वज इज्यते ॥२।१५।४॥
> देवानामीश्वरः शक्र मेघानां चारिसूदन।
> तस्य चायं महः कृष्ण लोकनाथस्य शाश्वतः ॥५॥
> यस्मात्प्रावृडियं कृष्ण शक्रस्यभुवि भाविनी।
> तस्मात्प्रावृषि राजानः सर्वे शक्रं मुदा युताः।
> महैः सुरेशमर्चन्ति वयमन्ये च मानवाः ॥१९॥

इन्द्रमहोत्सव की बात सुनकर और उसका व्यापक प्रभाव जानते हुए भी कृष्ण ने ग्वालों का मन उस ओर से मोड़ना चाहा और कहा—"हमलोग गोधन से जीविका चलानेवाले वनचारी गोप हैं। गाएँ हमारी देवता हैं। पर्वत हमारे देवता हैं। वन हमारे देवता है। किसानों की जीविका खेती से होती है। व्यापारियों की जीविका क्रय-विक्रय से होती है। हमारी वृत्ति के लिए तो गाएँ ही सब कुछ हैं। हमें उन्हीं की पूजा अर्चा करनी चाहिए। खेतों की जहाँ तक सीमा लगती है, वहाँ से आगे वन हैं। वनों से आगे पहाड़ फैले हैं। हमारी गति तो वे ध्रुव पहाड़ ही हैं। ब्राह्मण मन्त्रों से यज्ञ करते हैं, किसान हल से भूमि जोत कर यज्ञ करते हैं, हम ग्वालों को तो गिरियज्ञ ही करना चाहिए। इसलिए मुझे गिरियज्ञ करना ही भाता है। आओ हम गिरिदेवता की पूजा करें। गायों की पूजा में हमारा कल्याण है। इसलिए गिरियज्ञ करो। भले ही देवता इन्द्र की पूजा करें। हम तो गिरिराज का ही यज्ञ करेंगे। यदि आप सब मुझसे प्रीति मानते हैं तो मैं बलपूर्वक आपसे गोयज्ञ ही कराऊँगा।"[1]

कृष्ण की बात सुनकर ग्वालों ने उसका समर्थन किया—हे तात, तुम्हारी बुद्धि गोपों की हितकर्त्री और गायों की वृद्धिकर्त्री है। तुम्हारे कथनानुसार गिरियज्ञ

---

१. गोपवृद्धस्य वचनं श्रुत्वा शक्रपरिग्रहे।
प्रभावज्ञोऽपि शक्रस्य वाक्यं दामोदरोऽब्रवीत् ॥हरि० २।१६।१॥

वयं वनचरा गोपाः सदा गोधनजीविनः।
गावोऽस्मद्दैवतं विद्धि गिरयश्च वनानि च ॥२॥

कर्षुकाणां कृषिर्वृत्तिः पण्यं विपणिजीविनाम्।
गावोऽस्माकं परावृत्तिरेतत् त्रैविद्यमुच्यते ॥३॥

कृष्यन्ता प्रथिता सीमा सीमान्तं श्रूयते वनम्।
वनान्ता गिरयः सर्वे सा चास्माकं गतिर्ध्रुवा ॥५॥

मंत्रयज्ञपरा विप्राः सीतायज्ञाश्च कर्षुकाः।
गिरियज्ञास्तथा गोपा इज्योऽस्माभिर्गिरिर्वने ॥९॥

तन्मह्यं रोचते गोपा गिरियज्ञः प्रवर्त्तताम् ॥१०॥

अर्चयामो गिरिं देवं गाश्चैव च विशेषतः ॥४१॥

शिवाय गावः पूज्यन्तां गिरियज्ञः प्रवर्त्यताम्।
पूज्यतां त्रिदशैः शक्रो गिरिरस्माभिरिज्यताम् ॥४३॥

कारयिष्यामि गोयज्ञं बलादपि न संशयः।
यद्यस्ति मयि वः प्रीतिर्यदि वा सुहृदो वयम् ॥४४॥

ही होगा। शक्रमह एक ओर रखा रहे। तुम्हारे बताये अनुसार गाय और ग्वालों के हित के लिए गिरिमह ही रचाया जाय (हरिवंश २।१७।२, १०–११)[1]।

उस गिरिमह के लिए अनेक प्रकार के भोजन, पक्वान्न, मांस आदि के संभार बनाये गये। तीन दिन तक गाय और ग्वालों ने खूब आनन्द मनाया। अनेक प्रकार के बाजे बजाये गये। गन्ध, माल्य, धूप आदि सामग्री से शुभ तिथि को गिरियज्ञ मनाया गया। उस भोजन सामग्री का भोग पहले तो गिरिदेवता को लगाया गया। पीछे उसी से ब्रह्मभोज किया गया। गिरिमह के इस वर्णन में तीन तत्त्व हैं—एक तो समाज या उत्सव का रूप, दूसरे गिरि या पर्वत की पूजा और तीसरे गोपों द्वारा अपने गोधन की पूजा या सार-सँभाल। इसमें पहला तत्त्व अर्थात् किसी पर्वत पर जाकर उत्सव का आयोजन और दूसरा तत्त्व पर्वत की पूजा ये दोनों महाभारत के गिरिमह वर्णन में भी पाये जाते हैं।

अपने वनवास के प्रसंग में चारों दिशाओं की यात्रा करता हुआ अर्जुन अन्त में पश्चिम दिशा में द्वारका पहुँचकर कृष्ण का अतिथि बनता है। वहाँ कुछ दिन पीछे रैवतक गिरि पर वृष्णि और अन्धकों का सुमहान् उत्सव हुआ। गिरिमह नामक उस उत्सव में ब्राह्मणों को बहुत दान दिया गया और रैवतक के चारों ओर अनेक प्रकार के निवासस्थान बनाए गए जिनमें भोज, अन्धक और वृष्णियों के कुमार जाकर ठहरे। उस स्थान को बहुत से दीपवृक्ष अर्थात् झाड़-फानूसों से सजाया गया। वादक बाजे बजाने लगे, नर्तक नाच करने लगे और गवैये गाने लगे। वृष्णियों के नवयुवक सजवज कर सुन्दर सवारियों पर बैठकर सब ओर से वहाँ इकट्ठे हो गए। पुरवासी भी अपनी पत्नियों और नौकरचाकरों के साथ कुछ पैदल और कुछ यानों में बैठकर सैकड़ों-सहस्रों की संख्या में वहाँ पहुँच गए। रेवती को लिए हलधर अपने गवैयों के साथ जा पहुँचे। राजा उग्रसेन, प्रद्युम्न, साम्ब, नए वस्त्र और माला पहनकर वहाँ गए। इस प्रकार के उत्सवों में सम्मिलित होनेवाले शौकीन लोग नए वस्त्र, माला और सुगंधियों से अपने आप को सजाना आवश्यक समझते थे। कृष्ण जब कंस के धनुर्मह में शामिल होने के लिए मथुरा गए तो वहाँ भी हरिवंश की कथा में इन तीनों उपकरणों का उल्लेख किया गया है। उन्होंने धोबी से वस्त्र, माली से फूल-मालाएँ और कुब्जा से गंधानुलेपन प्राप्त किया। अक्रूर, सारण, गद आदि अनेक लोग अपनी स्त्रियों और

---

१. यत्त्वयाऽभिहितं वाक्यं गिरियज्ञं प्रति प्रभो।
कस्तल्लंघयितुं शक्तो वेलामिव महोदधिः ॥१०॥
स्थितः शक्रमहस्तात श्रीमान् गिरिमहस्त्वयम्।
त्वत्प्रणीतोऽद्य गोपानां गवां हेतोः प्रवर्त्यताम् ॥११॥

गंधर्वों को साथ लेकर रैवतक के उत्सव की शोभा बढ़ाने लगे। चारों ओर मनोहर कोलाहल होने लगा। उसी समय कृष्ण और अर्जुन भी पहुँच गए। वहीं सारण की सहोदरा और रिश्ते में कृष्ण की बहिन सुभद्रा भी सखियों के साथ मौजूद थीं। उसने शैलराज रैवतक का भलीप्रकार पूजन किया। और भी दूसरे देवताओं की पूजा करके ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराया और तब रैवतक गिरि की प्रदक्षिणा की (सुभद्रा त्वथ शैलेन्द्रमभ्यर्च्य सह रैवतम्। दैवतानि च सर्वाणि ब्राह्मणान्स्वस्ति वाच्य च॥ प्रदक्षिणं गिरिं कृत्वा प्रययौ द्वारकां प्रति। आदिपर्व, २१२।६,७)। उसी समय अर्जुन ने कृष्ण की साँठगाँठ से बलपूर्वक सुभद्रा का हरण कर लिया। समाचार सुनते ही सभापाल ने सांनाहिकी भेरी बजाकर महाघोष किया जिसे सुनते ही सब भोज, वृष्णि और अन्धक अन्नपान का वह उत्सव छोड़कर सभा में दौड़े गए (आदिपर्व, अ० २११-२१२)।

जब महाभारत का युद्ध समाप्त हो गया, तब कृष्ण सबसे विदा हो द्वारका में लौट आए। उस समय भी वहाँ रैवतक पर्वत पर 'मह' हो रहा था (वर्तमाने महाराज महे रैवतकस्य च। उपायात्पुण्डरीकाक्षो युयुधानानुगस्तदा॥ आश्वमेधिक पर्व ५६।४)। रैवतक मह के रूप में वृष्णियों का विहार हो रहा था (विहारो वृष्णिवीराणां महे रैवतकस्य ह॥ ५६।१४)। इस प्रसंग में गिरिमह का सजीव चित्र खींचा गया है—वह पर्वत नाना प्रकार के रत्नजड़ाऊ कोशों से मढ़ा गया था। सुनहली माला और फूलों से, भाँति-भाँति के वस्त्रों से और सोने के कल्पवृक्षों और दीपवृक्षों से सजाया गया था। उसकी गुफाओं और झरनों में दिन का सा उजाला हो रहा था। वहाँ घंटे लगी हुई पताकाएँ फहराई गईं थीं। स्त्री और पुरुष गाने में मस्त थे। गिरि की शोभा देखने योग्य थी। पहाड़ पर नाना भाँति की सामग्री से भरी हुई बहुतसी दुकानों का बाजार लग गया। वहाँ भक्ष्य, भोज्य, सुरा, मैरेय आदि खाने-पीने की चीजों के ढेर लग गए। वस्त्र, माला, वीणा, वेणु, मृदङ्ग आदि ठाट की सब सामग्री वहाँ थी। दीन, अन्ध, अनाथों को रातदिन सदावर्त बँटता था। इस प्रकार उस गिरिमह की शोभा बहुत सुन्दर हो गई—

बभौ परमकल्याणो महस्तस्य महागिरेः।
(५६।१३)

गिरिमह के इस वर्णन में एक ओर उत्सव पक्ष और विहार पर बल दिया गया है, दूसरी ओर एक महत्त्वपूर्ण सूचना और दी गई है। वह यह है कि गिरिपूजन के लिए उस पर अनेक रत्नजटित भाँति-भाँति के चित्रविचित्र कोश चढ़ाए गए (अलंकृतस्तु स गिरिर्नाना रूपैर्विचित्रितैः। बभौ रत्नमयैः कोशैः संवृतः पुरुषर्षभ॥ ५६-५)। देवता के विग्रह पर कोश चढ़ाने का तात्पर्य क्या है?

बाण ने हर्षचरित में शिव की पिण्डी पर 'मुखकोष' चढ़ाने का उल्लेख किया है (महार्हमाणिक्यखण्डखचितैश्च मुखकोषैः परितोषमस्य मनसि चक्रुः। हर्षचरित उच्छ्वास, निर्णयसागर संस्क० पृ० १००)। टीकाकार शङ्कर के अनुसार शिवलिंग पर चढ़ाए जानेवाले इन कोशों पर मुख की आकृति बनी रहती थी (मुखयुक्ताः कोषाः मुखकोषाः। ये लिंगोपरि दीयन्ते)। मथुरा कला में चतुर्मुखी शिवलिंग, पंचमुखी शिवलिंग और एकमुखी शिवलिंग कुषाण-काल से ही मिलने लगते हैं। गुप्तकाल में तो एक मुखी शिवलिंग बनाने का आम रिवाज हो गया था। वस्तुतः पत्थर के शिवलिंग में ही मानवमुख की आकृति बनाई जाती थी। उसी के अनुकरण पर शिवलिंग पर सोने-चाँदी या अन्य द्रव्य के मुखकोश या खोल चढ़ाने की प्रथा लोक में प्रचलित थी (हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ५६)। यहाँ पर गिरिदेवता के कोश का तात्पर्य वस्त्रादि के बने हुए चोले से जान पड़ता है। देवमूर्त्तियों पर चोला चढ़ाने की प्रथा लोक में आजतक विद्यमान है। इस प्रकार के जड़ाऊ कीमती चोले पृथक् पृथक् भक्त अपनी श्रद्धा के अनुसार गिरिराज की मूर्ति पर चढ़ाते रहे होंगे। यह गिरिपूजा की परम्परा का प्राचीन अंग विदित होता है। नदी-मह के अन्तर्गत गंगा नदी का पूजन करते हुए गंगा पर इसी प्रकार का वस्त्र चढ़ाने की लोकप्रथा आज भी है जिसे काशी में गंगापार पियरी चढ़ाना कहते हैं। प्राचीनकाल में स्तूपों पर भी इस प्रकार के आवरण चढ़ाने का रिवाज था। बौद्ध साहित्य में इन्हें देवदूष्य कहा गया है। सारनाथ के धमेखस्तूप में चारों ओर जो भाँति-भाँति के कटाव और उकेरी पाई जाती है वह स्तूप की देह पर चढ़ाया हुआ पाषाणमय कोश या आवरण ही है। इस आच्छादन में उसी प्रकार की सजावट बनी है जैसी किसी समय काशी के बने हुए महार्घ कासेय्यक वस्त्रों पर बनाई जाती थी। साँची के ईंट और मिट्टी के स्तूप पर शिलामय आच्छादन उस पर चढ़ाया हुआ कोश ही समझना चाहिए।

अध्याय ४

इन्द्रमह

प्राचीन उत्सवों की इस सूची में इन्द्रमह उत्सव विशेष महत्त्वपूर्ण था, जिसे शक्रमह भी कहा गया है। हरिवंश के ऊपर लिखे हुए प्रकरणों में इन्द्रमह महोत्सव का विस्तार से उल्लेख आया है। वहाँ कहा है कि वर्षाऋतु में सब राजा लोग और प्रजाएँ भी इन्द्रमह के द्वारा देवराज इन्द्र का पूजन करती थीं। इस इन्द्रमह उत्सव का स्वरूप क्या था – इस प्रश्न के उत्तर में वृद्धतम ग्वालों ने कृष्ण से कहा कि इन्द्रमह उत्सव के रूप में इन्द्रध्वज का पूजन किया जाता है (श्रूयतां तात शक्रस्य यदर्थं ध्वज इज्यते—हरिवंश, २।१५।४)। इन्द्रमह का संबन्ध उस यज्ञ से ज्ञात होता है जिसे हरिवंश में किषाणों का सीतायज्ञ कहा गया है। कृषिवृत्ति के साथ इन्द्रपूजन का घनिष्ठ सम्बन्ध था। आरम्भिक समाज की यह स्थिति वनचरों के आखेट की अवस्था के अनन्तर और इधर-उधर विचरने वाले गोपों की गोचारण अवस्था के अनन्तर आई होगी, जब वे एकस्थान में बद्धमूल होकर कृषि द्वारा जीवन यात्रा करने लगे।

भारतीय साहित्य में इन्द्रध्वज का विशेष वर्णन उपरिचर वसु कथा के अन्तर्गत महाभारत में आया है। उपरिचर वसु चेदि देश के धर्मपरायण राजा थे। इन्द्र ने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन देकर उपदेश दिया—हे पृथ्वीपति, तुम धर्म की रक्षा करो, धर्म ही समस्त संसार को धारण करता है। तुम सावधानी से लोक के धर्म का पालन करो। धर्मयुक्त होकर तुम्हें शाश्वत लोकों की प्राप्ति होगी। मैं द्युलोक में रहता हूँ, तुम पृथ्वीलोक में मेरे मित्र होकर निवास करो। इस चेदि देश की वसुधा धन-धान्य से पूर्ण है। यह देश पृथिवी का मानों साक्षात् स्तन है। यहाँ के जानपद जन धर्मशील, सन्तोषी और साधु हैं। सब वर्ण अपने-अपने धर्म में स्थित हैं। मैं तुमसे प्रसन्न होकर एक दिव्य विमान देता हूँ, जिसके द्वारा तुम आकाश में गमन करने की शक्ति प्राप्त करोगे। इसी के साथ मैं तुम्हें वैजयन्ती नाम की एक माला देता हूँ, जिसके कमल कभी मुरझाते नहीं। यह इन्द्रमाला तुम्हारा विशेष लक्षण होगी। इसी के साथ इन्द्र ने राजा को एक वैणवी यष्टि प्रदान की (यष्टिं च वैणवीं तस्मै ददौ वृत्रनिषूदनः—आदि पर्व ५७।१७—पूना संस्करण)। यह वैणवी यष्टि बांस की बड़ी लाट थी, जिसे पाकर राजा ने इन्द्र की पूजा के लिये अपने नगर में धूमधाम से उसका प्रवेश कराया। जैसा राजा वसु ने किया, आज भी सब लोग वैसा ही करते हैं। उस यष्टि को गन्ध, माल्य

एवं नाना भूषणों से अलंकृत करते हैं। और दूसरे दिन उसे सीधा खड़ा करते हैं। यष्टि के रूप में भगवान् शंकर की भी हँसी-खुशी के साथ पूजा की जाती है। यष्टि का पूजन शिवका हास्य रूप है। इस प्रकार राजा वसु द्वारा की हुई पूजा से इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने यह घोषणा की—जो राजा या मनुष्य इसी प्रकार के मह या उत्सव द्वारा मेरा पूजन करेंगे अथवा प्रसन्नता से उसका आयोजन कराएँगे, उन्हें समस्त राष्ट्र के साथ विजय और श्री प्राप्त होगी। इस प्रकार महात्मा इन्द्र ने प्रसन्न होकर महाराजवसु का विशेष सत्कार किया। चेदिराज वसु ने इन्द्रमह के द्वारा धर्म से पृथिवी का पालन किया।[1]

---

१. यष्टिं च वैणवीं तस्मै ददौ वृत्रनिषूदनः।
इष्टप्रदानमुद्दिश्य शिष्टानां परिपालनी ॥१७॥
तस्याः शक्रस्य पूजार्थं भूमौ भूमिपतिस्तदा।
प्रवेशं कारयामास गते संवत्सरे तदा ॥१८॥
ततः प्रभृति चाद्यापि यष्ट्याः क्षितिपसत्तमैः।
प्रवेशः क्रियते राजन् यथा तेन प्रवर्तितः ॥१९॥
अपरेद्युस्तथा चास्याः क्रियते उच्छ्रयो नृपैः।
अलंकृतायाः पिटकैर्गन्धैर्माल्यैश्च भूषणैः।
माल्यदानपरिक्षिप्ता विधिवत् क्रियतेऽपि च ॥२०॥
भगवान् पूज्यते चात्र हास्यरूपेण शंकरः।
स्वयमेव गृहीतेन वसोः प्रीत्या महात्मनः ॥२१॥
एतां पूजां महीं द्रष्टुः द्रष्ट्वा देवकृतां शुभाम्।
वसुना राजमुख्येन प्रीतिमानब्रवीत् विभुः ॥२२॥
ये पूजयिष्यन्ति नरा राजानश्च महं मम।
कारयिष्यन्ति च मुदा यथा चेदिपतिर्नृपः ॥२३॥
तेषां श्रीर्विजयश्चैव सराष्ट्राणां भविष्यति।
तथा स्फोता जनपदो मुदितश्च भविष्यति ॥२४॥
उत्सवं कारयिष्यन्ति सदा शक्रस्य ये नराः।
भूमिदानादिभिर्दानैः यथा पूता भवन्ति वै ॥
वरदानमहाभूतैस्तथा शक्रोत्सवेन ते ॥२६॥
संपूजितो मघवता वसुश्चेदिपतिस्तदा।
पालयामास धर्मेण चेदिस्थः पृथिवीमिमाम् ॥
इन्द्रप्रीत्या भूमिपतिश्चकारेन्द्रमहं वसुः ॥२७॥

—आदिपर्व अध्याय ६७

इसी प्रकरण में कुछ अन्य श्लोक भी नीलकंठीय संस्करण में पाए जाते हैं, उनसे ज्ञात होता है कि इन्द्रयष्टि ३२ हाथ या ४८ फुट लंबी होती थी (द्वात्रिंशत् किष्कुसंमिताम्)। पंचरंगी रंगों में रंगे हुए कपड़ों से और फूलमालाओं से इस यष्टि को सजाते थे। यष्टिपूजन के साथ ही मणिभद्र आदि यक्षों की और दूसरे देवताओं की पूजा भी की जाती थी। याचकों को और मित्रों को बहुत दान दिया जाता था। सब लोग अनेक प्रकार की क्रीडाओं से रमण करते थे। इस प्रकार नागर और जानपद जन सभी इन्द्रमह उत्सव मनाते थे। इस इन्द्रध्वज को सजाने के लिये पिटक का विशेषरूप से उल्लेख किया गया है। पिटक शब्द के अर्थ के विषय में मतभेद रहा है। वराहमिहिर ने बृहत् संहिता में इन्द्रध्वज यष्टि का विशेषरूप से उल्लेख किया है। वहां भी किंकिणीजाल, माला, छत्र, घंटियां और पिटकों से इन्द्रध्वज को अलंकृत करने का उल्लेख है—स किंकिणीजालपरिष्कृतेन, स्रक्छत्रघण्टापिटकान्वितेन। समुच्छ्रितेनामरराड्ध्वजेन, निन्ये विनाशं समरेऽरिसैन्यम् —बृहत् संहिता ४२।७, और भी - छत्रध्वजादर्शफलार्धचन्द्रैर्विचित्रमालाकदलीक्षुदण्डैः। सव्यालसिंहैः पिटकैर्गवाक्षैरलंकृतं दिक्षु च लोकपालैः ॥—४२।५७। किन्तु पिटक का साधारण अर्थ पिटारी यही समीचीन ज्ञात होता है। बंगाल में अभी तक इन्द्रध्वज सजाने के लिये इस प्रकार छोटी पिटारी या करण्डक बांधे जाते जाते हैं। वराहमिहिर के अनुसार गोल कांच, फलों की मालाएँ, अर्ध चन्द्राकृति अलंकरण, केले और गन्ने के टुकड़े भी इन्द्रध्वज के सजाने के काम में आते थे। व्यालसिंह या लांगूलसिंह, अर्थात् ऐसी आकृति के खिलौने, जिनका आधा भाग सिंह जैसा हो, और शेष आधा भाग लांगूल रूप हो—इन्द्रध्वजा सजाने के काम के आते थे। प्राचीन शिल्प की मूर्तियों में बलराम के लिए जिस ध्वजा की कल्पना की गई है, उसमें इस प्रकार के व्यालसिंह विशेषरूप से पाए जाते हैं। महाभारत के इस प्रकरण में इन्द्रध्वज के सामूहिक पूजन को शिव का हास्य रूप कहा गया है। नीलकंठी टीकावाले सामान्य संस्करण में 'भगवान् पूज्यते चात्र हंसरूपेण वासव।' ऐसा पाठ है, जिसका अभिप्राय यह है कि इन्द्रयष्टि के रूप में हंसरूपधारी इन्द्र की पूजा की जाती है। स्वर्गीय डा० सुकथनकर ने अपने एक लेख में[1] प्रमाण-पूर्वक यह सिद्ध किया था कि 'हंसरूपेण वासवः' पाठ अशुद्ध है। इन्द्र ने कभी हंसरूप धारण किया हो—ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। 'हास्यरूपेण शंकरः' पाठ उस प्राचीन परंपरा की ओर हमारा ध्यान खींचता है, जिसके अनुसार ये भिन्न भिन्न प्रकार के उत्सव समस्त लोकव्यापी शिवपूजा के साथ ही किसी न किसी प्रकार से संबन्धित कर दिए गए थे। भूमि से संबन्धित निषाद

१. इज इन्द्र एजियुम दि फर्म अव स्वान्—डेकन कालेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट की शोधपत्रिका, भा० १ पृ० १–७।

जातियों में एक ओर शिवपूजा का सर्वत्र प्रचार था, दूसरी ओर यक्ष नाग, किंनर पर्वत, नदी, वृक्ष, स्तूप, चैत्यादि पूजाओं की प्रथा भी दूर दूर तक फैली हुई थी। धार्मिक समन्वय की भारतीय पद्धति के अनुसार शनैः शनैः उन सब उत्सवों को शिवपूजा के साथ मिलाकर उसी के रूपविशेष की तरह मान्य किया गया। हम पहले देख चुके हैं कि धनुर्मह महोत्सव के मूल में भी शिवपूजा का ही उद्देश्य था (कस्यचित् त्वथ कालस्य मथुरायां महोत्सवम्। पिनाकिनं समुद्दिश्य चक्रे कंसो नराधिपः ।।—हरिवंश २।१०१।६२)। रामायण में भी जनक के धनुर्यज्ञ में पूजित धनुष् को शैवधनु या देवदेव शिव का धनुष् कहा गया है (बालकाण्ड ६६।१२,१८)।

इन्द्रयष्टि का पूजन भगवान् शंकर के हास्य का मूर्त रूप समझा जाता था। समस्त जनपद के जीवन का जो मग्नानन्दी पक्ष है, उसका प्रतीक इन्द्रयष्टि थी। आबालवृद्धवनिता सब हँसमुख जीवन व्यतीत करते हुए कृषि-सम्पत्ति के साथ नृत्यगीत, आमोद-प्रमोद और उत्सव की प्रवृत्ति से फूलते-फलते जनपदीय जीवन का जो रूप प्रस्तुत करते हैं, उसी का सर्वोत्तम चिह्न इन्द्रध्वज या इन्द्रयष्टि पूजन था। कालिदास ने रघुवंश में इन्द्रध्वज के दर्शन से प्रजाओं के आनन्दित होने का उल्लेख किया है (पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपङ्क्तयः । नवाभ्युत्थानदर्शिन्यो ननन्दः सप्रजाः प्रजाः ।। ४।३)। मल्लिनाथ ने भविष्योत्तरपुराण का प्रमाण देते हुए लिखा है—एवं यः कुरुते यात्रां इन्द्रकेतोर्युधिष्ठिर। पर्जन्यः कामवर्षी स्यात् तस्य राज्ये न संशयः। यहाँ पर इन्द्रध्वज के महोत्सव को यात्रा कहा गया है। यात्रा का तात्पर्य भी उत्सव या मेला था। संस्कृत यात्रा शब्द से प्राकृत में 'जत्त' और आधुनिक हिन्दी में जात शब्द बना है। आज भी नगरकोट काँगड़ा की देवी के बड़े मेले को 'जात' कहा जाता है, और भी स्थानीय देवी देवताओं की 'जात' बोली जाती है और मनाई जाती है। इन्द्रध्वज पूजन का समय शरदृतु ज्ञात होता है। रघुवंश और हरिवंशपुराण के प्रमाण से ऐसा विदित होता है। हरिवंश में स्वयं इन्द्र के मुख से कहलाया गया है—यह जो वर्षा के चार मास हैं, इन चारों का विधान मेरे ही लिये था, किन्तु हे कृष्ण, इनमें से पहले दो महिने मैं तुम्हें देता हूँ। बाद का जो शरत्काल है उसके दो मास मेरे कहलायेंगे, और चौमासे के द्वितीय अर्धभाग में मेरे लिए ध्वजपूजा का विधान किया जायगा (ये चेमे वार्षिका मासाश्चत्वारो विहिता मम। तेषामर्धं प्रयच्छामि शरत्कालं तु पश्चिमम्। अद्यप्रभृति मासौ द्वौ ज्ञास्यन्ते मम मानवाः। वर्षार्धे च ध्वजो मह्यं ततः पूजामवाप्स्यसि।।—हरिवंश २।१६।४७-४८)। जिस प्रकार प्राचीनकाल में शिवमह के साथ इन्द्रमह का समन्वय हुआ था, जैसा कि 'हास्यरूपेण शंकरः' उल्लेख से प्रतीत होता है, उसी प्रकार कृष्ण द्वारा गोवर्धनलीला के फलस्वरूप

इन्द्रमह का समन्वय कृष्ण या पंचरात्र परम्परा से सम्पन्न हुआ ज्ञात होता है। हरिवंश में स्पष्टरूप से कहा गया है—

नारास्तां चैव मां चैव ध्वजाकारासु यष्टिसु।
महेन्द्रं चाप्युपेन्द्रं च महयन्ति महीतले॥
(हरिवंश २।१६।५६)

अर्थात् इन्द्रयष्टियों के पूजन से मनुष्य जहाँ एक ओर इन्द्र की पूजा करते हैं, वहीं दूसरी ओर इन्द्र के छोटे भाई उपेन्द्र कृष्ण की पूजा भी करते हैं। इसीलिए वर्षा के चार महिनों में आधा भाग उपेन्द्र और आधा भाग इन्द्र का माना गया है।

किन्तु इन्द्रध्वज पूजन के लिए समय का जो संकेत हरिवंश की कथा से मिलता है, उसके अतिरिक्त भी परम्पराएँ हैं। तमिल भाषा के अतिप्रसिद्ध काव्य शिलप्पाधिकारम् के अनुसार इन्द्रध्वज-पूजन का उत्सव दक्षिणभारत में चैत्र पूर्णिमा को मनाया जाता था। शिलप्पाधिकारम् में पंचम सर्ग में शक्रोत्सव का बहुत ही सजीव वर्णन है। इस सर्ग का नाम है इन्दिरविलावुरे डुत्तकडै। कावेरी नदी के तट पर स्थित पुहार नामक राजधानी के निवासियों ने मिलकर इन्द्र का उत्सव मनाने का निश्चय किया। यह नगरी उस समय की समृद्धिमत् पोतपत्तन थी। यहाँ अनेक प्रकार के व्यवसायी रहते थे, जो रेशमी, सूती वस्त्र, मूंगे चन्दन, मोती, रत्न, सुवर्ण आभूषण, नाना प्रकार के पेय आदि का व्यापार करते थे। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के शिल्पी, कुंभकार, सुवर्णकार, मणिकार आदि थे। वीणा-वेणु-वादन में कुशल प्रसिद्ध गायक और नर्तक भी वहाँ थे। सब ने धूमधाम से खानपान का प्रबन्ध किया और इन्द्रध्वज उत्सव की तैयारी की। इसी उत्सव के अन्तर्गत समुद्रस्नान भी उसका एक भाग था। इसी काव्य के छठे सर्ग में समुद्र स्नान (कडलदु कडै) का विस्तृत वर्णन है। इसी वर्णन की तुलना हरिवंश के उस वर्णन से की जा सकती है, जिसमें कृष्ण बलराम आदि के साथ भोज अन्धक और वृष्णियों के समुद्रस्नान का अत्यन्त चमत्कारपूर्ण उल्लेख है (हरिवंश २।८८)। ज्ञात होता है कि इन्द्रमह आदि प्राचीन महोत्सवों में जहाँ कहीं इस प्रकार की सुविधा सम्भव होती, वहाँ जलक्रीड़ा भी उत्सव का अंग बन जाती थी। संस्कृत साहित्य में इन्द्रध्वज उत्सव का निरन्तर उल्लेख मिलता है। उससे यह भी सूचित होता है कि जनजीवन के साथ इस उत्सव का बराबर सम्बन्ध बना हुआ था। हम देख चुके हैं कि उच्च वर्ग के धार्मिक जीवन में जो स्थान वैदिक यज्ञों का था वही साधारण जनता के जीवन में इन मह संज्ञक उत्सवों का था। हरिवंश के लेखक ने तो स्पष्ट ही लिखा है कि मन्त्रों से सिद्ध होने

वाले यज्ञों का सम्बन्ध विप्रों से है (मन्त्रयज्ञपराः विप्राः – हरिवंश २।१६।६)। अतएव ऋक्-यजुः-साम तीन वेदों का सम्बन्ध तो उन वैदिक यज्ञों से था, जिनमें सोम का अभिषव विशेषरूप से किया जाता था। वे इसी कारण से सव या प्रसव कहलाते थे। दूसरी ओर जनता में इन धार्मिक और सामाजिक मेलों का सम्बन्ध अथर्ववेद की परम्परा से था। जन-जीवन और जन-विश्वास की घनिष्ठ परम्परा का सम्बन्ध इसी वेद से पाया जाता है। अनेक लोक देवताओं का उल्लेख अथर्व के मन्त्रों में हुआ है। इन लोकोत्सवों के अवसर पर भी जनता अपने लिए अनेक प्रकार के मधुपान का प्रबन्ध करती थी जिसके कारण ये उत्सव कहे जाते थे। अथर्ववेद के कौशिक सूत्रों में इन्द्रमह का विशेष रूप से वर्णन आया है। अथर्वपरिशिष्टसंग्रह नामक संग्रह ग्रंथ[1] में इन्द्रमहोत्सव, ब्रह्मयाग और स्कन्दयाग ये तीन परिशिष्ट ग्रन्थ हैं, जिनका सम्बन्ध क्रमशः इन्द्रमह, ब्रह्ममह और स्कन्दमह से है।

इन्द्रमहोत्सव नामक परिशिष्ट के अनुसार यह उत्सव प्रौष्ठपद अर्थात् भाद्रपद के शुक्लपक्ष में मनाया जाता था। राजतरंगिणी में भी इन्द्र के उत्सव का वर्णन है (८।१७०) और वहां भाद्रपद शुक्ल द्वादशी को इन्द्रद्वादशी कहा गया है (८।१८२)। अथर्व परिशिष्ट के अनुसार राजा और ब्रह्मा दोनों पहले दिन उपवास रखकर व्रत लेते थे और अगले दिन पूजाविधि के साथ इन्द्रोत्थापन करते थे। इन्द्रोत्थापन का तात्पर्य इन्द्रयष्टि के उच्छ्रय या खड़ा करने से ही है, क्योंकि आगे चलकर उस यष्टि के शिरोभाग, मध्यभाग, आदिभाग और मूलभाग एवं उसको कसकर स्थिर रखने वाली रस्सियों का वर्णन है। इसी प्रसंग में इन्द्रयष्टि के भाग विशेष को इन्द्राटक कहा गया है, जिसका निश्चित अर्थ स्पष्ट नहीं होता। इस अवसर पर पशुओं की सारसंभाल भी की जाती थी, जिसके फलस्वरूप इन्द्र उनका देवता बन सके, अर्थात् इन्द्र उनकी रक्षा में आ जाय। राजा के साथ साथ उसके भृत्य आदि भी दीक्षित होकर तीन रात या सात रात तक यह उत्सव मनाते थे। अन्त में ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराकर सबलोग अवभृथ स्नान के लिए जाते थे, जैसे यज्ञ के अन्त में स्नान होता है। गिरिमह के संबन्ध में ऊपर समुद्रस्नान का उल्लेख हो चुका है, और 'शिलप्पाधिकारम्' में इन्द्रमह के संबन्ध में भी समुद्र-स्नान का उल्लेख आया है। ज्ञात होता है इन उत्सवों के धार्मिक कृत्य का ही एक भाग स्नान था जैसे यज्ञों में अवभृथ स्नान किया जाता था। अन्त में इसका फल बताते हुए लिखा है—श्वः श्वोऽस्य राष्ट्रं ज्यायो भवत्येकोस्यां पृथिव्यां

---

१. दि परिशिष्टज़ अफ दि अथर्ववेद, संपादक बलिंग और नगेलाइन— भाग १ परिशिष्ट १९।१९ बी २०।

राजा भवति, न पुरा जरसः प्रमीयते य एवं वेद यश्चैव विद्वान् इन्द्रमहेन चरतीति ब्राह्मणम् (इन्द्रमहोत्सव परिशिष्ट १९।३।९) अर्थात् जो राजा इन्द्रमह करता है उसका राष्ट्र दिन दूना रात चौगुना बढ़ता है। वह पृथ्वी पर एकछत्र शासन करता है और उसकी दीर्घ आयु होती है।

वसु उपरिचर की कथा में लगभग यही भाव कहा गया है कि जिस राष्ट्र में यह शक्रोत्सव मनाया जायगा उसके जनपद स्फीत और मुदित होंगे और उनके निवासी चैन की वंशी बजाएंगे।

भास ने बालचरित नाटक में नन्द गोप के घोष में इन्द्रयज्ञ उत्सव का उल्लेख किया है (बालचरित, पूना संस्क० पृ० ५१९)। मृच्छकटिक नाटक में भी इन्द्र-मह उत्सव का प्रासंगिक उल्लेख है—'अरेदाणीं इन्द्रमहकामुको वि अ सुट्ठु किं काका असि' अरे, क्यों अब इन्द्रमह के लालची कौए की तरह कांव कांव कर रहा है। इन्द्रमह उत्सव के अवसर पर जो खाद्य सामग्री का भारी संभार एकत्र किया जाता था, उसकी भूठन पर टूटने वालों कौओं को व्यंग से इन्द्रमह कामुक कहा गया है।[1] किन्तु हेमचन्द्र ने देशी नाममाला में कुत्ते को इन्द्रमहकामुक कहा है (देशीनाममाला १।८२) इन्द्रमह उत्सव में जो पूरी-पक्वान्न ढेर के ढेर बनते थे, उनका लोभी—इस कुत्सित अर्थ में हेमचन्द्र की व्याख्या की भी संगति बैठती है। गुप्तकालीन मन्दसौर शिलालेख में इन्द्रोत्सव को शक्र का मघ कहा गया है। मख, मघ, मह—ये तीनों शब्द परस्पर संबन्धित हैं।

इन्द्रमह उत्सव के संबंध में महाभारतकार ने जो यह उल्लेख किया है कि इस अवसर पर भगवान् शंकर का हास्यरूप में पूजन किया जाता था (भगवान् पूज्यते चात्र हास्यरूपेण शंकरः) उसके सम्बन्ध में दो तथ्य विशेषरूप से ध्यान देने योग्य हैं। पहला तो यह कि इन्द्रोत्सव का संबन्ध कृषि से होने के कारण यह वर्ष भर में खान पान और खाद्यसामग्री के संभार का प्रदर्शन का सबसे बड़ा अवसर समझा जाता था। गोवर्द्धन की पूजा के साथ जो अन्नकूट का उत्सव है, वह वस्तुतः इन्द्रमहोत्सव का ही अंग था। उस समय इन्द्रमह के लिए जो नाना प्रकार के भक्ष्य भोज्य बनाए गए थे, वे कृष्ण द्वारा इन्द्रमह के स्थान में गिरिमह की प्रतिष्ठा होने पर गोवर्द्धन या गिरिराज पूजन के लिए काम में लाए गए। आजतक लोक में गोवर्द्धन की पूजा के साथ अन्नकूट का उत्सव व्रजमंडल में

---

१. मृच्छकटिक के टीकाकार पृथ्वीधर के अनुसार इन्द्रमहकामुको का पाठान्तर इन्दमह काक पोदओ भी था, अर्थात् इन्द्रमह का लोभी कौए का छोटा बच्चा या कागला।

मनाया जाता है। उसका रूप सार्वजनिक मेले का है, और भी मध्यकाल में वल्लभाचार्य के प्रभाव से कृष्णलीला के उत्सवों का जहां जहां प्रचार हुआ वहां वहां वल्लभकुलीय मन्दिरों में अन्नकूटीय उत्सवों का भी प्रचार हुआ। लोक में आज तक घर घर में दिवाली से अगले दिन अपनी अपनी श्रद्धा और शक्ति के अनुसार अन्नकूट का उत्सव मनाया जाता है[1]। अवश्य ही यह इन्द्रमह महोत्सव का प्राचीन अंग था।

इन्द्रमहपूजा को लोगों की हँसी खुशी का वर्ष का सबसे बड़ा त्योहार माना जाता था, उसमें दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रमाण नाट्य-शास्त्र का वह उल्लेख है, जिसमें भरत मुनि ने नाट्य प्रयोग के लिए सब प्रकार की तैयारी करके ब्रह्मा से पूछा कि अब वे क्या करें? तब ब्रह्मा ने उत्तर दिया--

> महानयं प्रयोगस्य समयः समुपस्थितः।
> अयं ध्वजमहः श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्तते ॥१।५४॥
> अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम्।
> ततः तस्मिन् ध्वजमहे निहतासुरदानवे ॥१।५५
> प्रहृष्टामरसंकीर्णे महेन्द्रविजयोत्सवे।
> नान्दीकृता मया पूर्वमाशीर्वचनसंयुता ॥१।५६॥

अर्थात् यही नाट्यप्रयोग करने का ठीक समय है। इस समय देवराज इन्द्र का ध्वजमह नामक उत्सव हो रहा है; अभी यहीं पर नाट्यवेद का प्रयोग करना चाहिए। तब वहीं ध्वजमह के उत्सव में जहाँ महेन्द्र की असुरविजय में प्रसन्न हुए देवता उल्लास मना रहे थे, भरत मुनि ने सर्वप्रथम नाट्यवेद के प्रयोग के लिए आशीर्वाद का उच्चारण करते हुए नान्दी गान किया। नाट्यवेद के उस प्रयोग से परितुष्ट होकर ब्रह्मादिक देवताओं ने नाटक के लिए अलग अलग उपकरण प्रदान किए। उनमें सबसे पहले इन्द्र ने अपना ध्वज नाट्यप्रयोग की सिद्धि के लिए प्रदान किया—"ततो ब्रह्मादयो देवाः प्रयोगपरितोषिताः। प्रददुर्हृष्टमनसः सर्वोपकरणानि नः॥ प्रीतस्तु प्रथमं शक्रो दत्तवान् स्वध्वजं शुभम्॥"— नाट्यशास्त्र १।५८-५६)।

---

१. सूरदास ने गोवर्धन के अन्नकूट का साहित्य में अत्यन्त सरस और विस्तृत वर्णन किया है। शकट और डालियों में भरे हुए व्यञ्जन संभारों का वर्णन करते हुए सूर ने कहा है—परुसत भोजन प्रात हीं तौं सत्र रवि साथे तैं ढरकि गओ अब। (सूरसागर पद १६२६ काशी सं०)

उसी प्रसंग में आगे यह भी उल्लेख है कि जब नाटक का प्रयोग प्रारम्भ होने लगा, तब दैत्य बहुत क्षुभित हुए। उन्होंने जलकर तरह तरह के विघ्नों से नाट्यप्रयोग को बींध डाला। उन्होंने कहा—हम नहीं चाहते कि यह नाटक इस प्रकार जनता में फैले। उन्होंने नृत्य करनेवाले पात्रों की वाणी, चेष्टा और स्मृति को कील दिया। इस प्रकार नाट्यप्रयोग में आए हुए विघ्नों से सूत्रधार को हतप्रभ देखकर देवराज इन्द्र को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने झपट कर अपना दिव्य इन्द्रध्वज उठा लिया और रंगपीठ पर डटे हुए विघ्नों को हाथ के जर्जर नामक डंडे से पीट पीट कर भगा दिया[1]।

इस कथानक से यह निश्चित ज्ञात होता है कि इन्द्रध्वज महोत्सव या शक्रमह के प्राचीन उत्सव के साथ जो आमोद-प्रमोद होते थे, उसी परम्परा में नियमित नाट्यप्रयोगों का उद्गम अतीत के किसी धुंधले युग में हुआ। स्फीत शक्रमह के अवसर पर नाट्यप्रयोग भी प्रस्तुत किए जाने लगे (प्रयोगे प्रस्तुते त्वेवं स्फीते शक्रमहे पुनः—नाट्यशास्त्र १।७६)।

यह तथ्य प्राचीन भारतीय उत्सवों की विकास-परम्परा के सर्वथा अनुकूल है। इन उत्सवों का स्वरूप यात्राओं का था। इन्द्रध्वज उत्सव को यात्रा कहा भी गया है। नायाधम्मकहा नामक जैन सूत्रग्रन्थ में स्पष्ट ही इन्द्रमह और खन्दमह का उल्लेख करने के बाद रुद्र, शिव, वैश्रवण, नाग, यक्ष, भूत, नदी, तड़ाग, वृक्ष, चैत्य, पर्वत, उद्यान और गिरि इन १३ उत्सवों का और उल्लेख किया गया है,

---

१. एवं प्रयोगे प्रारब्धे दैत्यदानवनाशने।
अभवन् क्षुभिताः सर्वे दैत्या ये तत्र संगताः॥
विरूपाक्षपुरोगांश्च विघ्नानुत्पाद्यते ब्रुवन्।
नेत्थमिच्छामहे नाट्यमेतदागम्यतामिति॥
ततस्तैरसुरैः सार्धं विघ्नमायामुपाश्रिताः।
वाचश्चेष्टां स्मृतिं चैव स्तम्भयन्ति स्म नृत्यताम्॥
एवं विध्वंसितं दृष्ट्वा सूत्रधारस्य देवराट्।
तस्मात् प्रयोगवैषम्यमित्युक्त्वा ध्यानमाविशत्॥
अथापश्यद् सदा विघ्नैः समन्तात् परिवारितम्।
सहेतरैः सूत्रधारं नष्टसंज्ञं जडीकृतम्॥
अथोत्थाय द्रुतं क्रोधाद् दिव्यं जग्राह स ध्वजम्।
सर्वरत्नोज्ज्वलतनुः किञ्चिदुद्वृत्तलोचनः॥
रङ्गपीठगतान् विघ्नानसुरांश्च देवराट्।
जर्जरीकृतदेहास्तानकरोज् जर्जरेण सः॥ (नाट्यशास्त्र १।६४-७०)

और इन सब को यात्रा यह संज्ञा दी गई है[1]। यात्रा को प्राचीन काल में समाज भी कहते थे। इन दोनों का स्वरूप वही था, जो वर्तमानकाल में मेलों का है। उनके मूल में किसी देवपूजा या धार्मिक पूजा का बीज रहता था, किन्तु उनका जो बाह्य स्वरूप था, वह हँसी खुशी नाच गान मेला तमाशा और खानपान की मस्ती से भरा हुआ था। जातकों में पहाड़ पर होनेवाले एक मेले को गिरि अग्ग समज्य अर्थात् गिरि अग्र समाज कहा गया है (जातक ३।५३८), जिसमें तरह तरह की जेवनार के साथ साथ नाटक तमाशे का भी प्रबन्ध था। जातकों में जो उन समाजों का स्वरूप दिया हुआ है, वह कुछ इस प्रकार है। समाज की घोषणा होने पर सब लोग छुट्टी मनाते, ढोल और शंख बजानेवाले इकट्ठे होकर सूचना देते, अमीर गरीब सब नए कपड़े और मालाएँ पहन कर स्त्रियों के साथ शरीर में सुगन्धि और अनुलेपन लगाते, और एक साथ खाते पीते थे। वहाँ भाँति भाँति के खेल तमाशे होते थे। नाचने गाने का भी रंग जमता था, पुराने कवितावद्ध आख्यान कत्थक लोग गाकर सुनाते और श्रोता लोग सुनते थे। कहीं मल्लयुद्ध होता, कहीं हस्तियुद्ध, अश्वयुद्ध, मेषयुद्ध का प्रदर्शन होता और कहीं दण्डयुद्ध का खेल दिखाया जाता। साथ ही नाटक का भी अभिनय किया जाता और गवइयों की आपस में होड़ लगती, नट तरह तरह की कला दिखाते, कभी बाँस पर चढ़ते, कभी रस्सों पर और सपेरे अपनी बीन से लोगों का चित्त प्रसन्न करते। कहीं झूले पड़ जाते और लोग डोलों में बैठकर झूलते (दोलाय् किलितुम्) और उनके साथ ही उदक्रीडा की मौज भी नदी या ताल के किनारे लोग लूटते थे। धार्मिक पूजा का मूल बीज इस प्रकार खेल तमाशे का खोल चढ़ने से सब लोगों के लिए विशेष खिचाव का कारण बन जाता था, यही मेले का मनोवैज्ञानिक और स्थूल रूप है।

विराटपर्व में ब्रह्मा जी के मेले को स्पष्ट ही ब्रह्मा का उत्सव या ब्रह्मा का समाज कहा गया है (ब्रह्मणः समाजे—विराट १३।१४-१५)। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर तो 'भगवान् पूज्यते चात्र हास्यरूपेण शंकरः' इस परम्परा में अनेक लोकत्सव और मेले आजतक जनसाधारण में चले आते हैं, और दूसरी ओर इन्हीं मह नामक उत्सवों के मन्थन से प्रयोगप्रधान नाट्यशास्त्र का जन्म हुआ, जिसने नृत्य गीत अभिनय एवं कथनोपकथन द्वारा विकसित होकर सभ्य समाज में ऊँची प्रतिष्ठा प्राप्त की।

---

१. अज्ज रायगिहे नगरे इन्दमहे इ वा खन्दमहे इ वा एवं रुद्द-शिव वेसमण-नाग-जक्ख-भूय-नई-तलाय-रुक्ख-चेइय-पव्वय-उज्जाण-गिरिजत्ताई वा। नायाधम्म-कहाओ १।२८

भारतीय लोक का जीवन बड़ा विचित्र है। इसमें पुरानी से पुरानी परंपराएँ आजतक जीवित रह गई हैं। अपने जन्मस्थान के पास के एक गाँव में बात-चीत करते हुए मुझे इन्दर के यज्ञ का पहली बार परिचय मिला। पूरन नाम के राजपूत ने जैसे ही उस शब्द का उच्चारण किया, मेरा ध्यान उसपर ठहर गया। मैं सोचने लगा इस इन्दर के यज्ञ में तो प्राचीन इन्द्रध्वजपूजन की बात ही सुनाई पड़ी है। उन भोले भाले ग्रामवासियों के बीच में मेरे बाल्यपन के कुछ वर्ष बीते थे, पर उसदिन पहली बार वह शब्द सुनकर मुझे बहुत ही कुतूहल हुआ, यद्यपि वैदिककाल से कई सहस्रवर्ष हटकर हमारा जीवन आज बहुत दूर जा पड़ा है, पर फिर भी उसका तार प्राचीन परम्पराओं के साथ अनेक अंशों में मिला हुआ है। यह 'इन्दर का जग्ग' भी उसी का उदाहरण है। मैंने कुतूहल से पूछा—यह इन्दर का जग्ग क्या है और कब मनाया जाता है? उत्तर में पूरन ने कहा—आषाढ़ के महीने में किसी भी इतवार को गाँव के सब आदमी मिलकर बड़ा भारी उत्सव मनाते हैं, और राजा इन्दर की पूजा करते हैं, यही इन्दर का जग्ग है। उत्सव से पहले दिन हलगैल (अर्थात् प्रतिहल डेढ़ सेर से पाँच सेर तक अन्न गाँव भर में इकट्ठा किया जाता है, जिससे बड़ा हवन और ब्रह्मभोज करते हैं। फिर उसी सायंकाल को जितना दूध दुहा जाता है, वह भी इकट्ठा करके रख लेते हैं। उत्सव के दिन बहुत प्रातः उठकर सबलोग तैयार हो जाते हैं, और उस दूध में पानी और गंगाजल मिलाकर घड़ों में भर कर गाँव के चारों ओर परिक्रमा करते हुए दूध की धार से उसे सींचते हैं। गाँव की सीमाएँ परिक्रमामार्ग के भीतर आ जाती हैं। परिक्रमा यात्रा में ढोल-ढपंखा-शंख-घड़ियाल बजाते हुए बाजे गाजे के साथ तीव्र गति के साथ चलते हैं। स्त्री, पुरुष, बालक, बूढ़े, जवान—सबलोग उसमें शामिल होते हैं और सब में बड़ा उल्लास और आनन्द देखा जाता है, फिर सबलोग ब्रह्मभोज और खानपान करते हैं। इस प्रकार आजतक राजा इन्दर का यज्ञ मनाया जाता है।

नेपाल में भी इन्द्रयात्रा का उत्सव बड़े समारोह से मनाया जाता है। भादों के महीने में शुक्लपक्ष की अष्टमी तिथि से आठ दिन तक यह उत्सव रहता है। पहले दिन राजभवन के सामने एक बड़ी ध्वजा खड़ी करते हैं, और राजघर के अच्छे से अच्छे नाचनेवाले इकट्ठे होकर उसके चारों ओर नाचते गाते हैं। नाचते समय वे अपने मुखों पर अनेक आकृतिओं के मुखौटे या चेहरे बाँध लेते हैं। ये मुखौटे बंगला भाषा में मुखोश या मुखकोष कहलाते हैं। शिव के सम्बन्ध में जिस जिस प्रकार के मुखकोषों का उल्लेख बाण ने किया है, वे इसी प्रकार के होते थे। गिरिमह के प्रसंग में भी इस प्रकार के कोषों का उल्लेख ऊपर आ चुका है। उत्सव के तीसरे दिन कुमारीपूजा होती है (राइट कृत हिस्टरी अफ नेपाल—

पृ० ३९)। गिरिमह उत्सव में पर्वत की प्रदक्षिणा उसका विशेष अंग थी। सुभद्रा ने रैवतक पर्वत के पूजन के बाद उसकी प्रदक्षिणा की और ब्रह्मभोज कराया। इन्दर के जग्ग में गाँव की प्रदक्षिणा का उल्लेख अभी ऊपर हो चुका है। ब्रजमण्डल में गोवर्धन का जो मेला गोवर्धनयात्रा के नाम से प्रसिद्ध है, उसमें उसका प्रधान अंग गिरिराज पर्वत की सात कोस की प्रदक्षिणा है। यह परिक्रमा आजतक लगाई जाती है। इसी प्रकार कितनी ही प्राचीन यात्राओं के अवशेष इन प्रदक्षिणाओं में अवशिष्ट रह गए हैं। संभव है गिरिराज की यात्रा के समान रैवतक पर्वत की प्रदक्षिणा की परम्परा भी लोकजीवन में अबतक बच गई हो। प्रायः प्रत्येक तीर्थस्थान में ऐसी प्रदक्षिणाओं की परम्परा अभी जीवित है। इसी तरह अक्षयनवमी के दिन व्रज में मथुरा की पंचक्रोशी परिक्रमा लगाई जाती है और भाद्र शुक्ल अष्टमी से एकादशी तक के दिनों में ब्रजमंडल की बड़ी प्रदक्षिणा चौरासी कोस की ब्रजयात्रा के नाम से आजतक उठती है। काशी में भी पंचकोशी परिक्रमा की प्रथा है।

ऊपर लिखे हुए इन्द्रमह के वर्णन से यह सूचित होता है कि प्राचीन भारतीयों के जीवन में इन्द्रमहोत्सव हरियाली से भरी हुई शस्यश्यामला धरित्री के दर्शन से मानवीय उल्लास को व्यक्त करने का उत्सव था, इसके द्वारा विश्वव्यापी प्रजनन और पृथिवी की कोख में से पनपने वाले वनस्पतिजीवन को देखकर मानव के स्वाभाविक हर्ष की अभिव्यक्ति की जाती थी। इन्द्रमह और गिरिमह के संघर्ष का जो थोड़ा सा संकेत हरिवंश पुराण में मिलता है, उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इन्द्रमह का सम्बन्ध उस जातीय स्तर से था जिसके राष्ट्रीय देवता इन्द्र थे। एक ओर वैध यज्ञों द्वारा इन्द्र का पूजन किया जाता था, दूसरी ओर उसी का लोक सामान्यरूप साधारण स्तर पर इन्द्रमह के रूप में था। तात्पर्य यह कि इन्द्रयज्ञ का संबन्ध आर्यजाति से और गिरिमह, यक्षमह आदि का सम्बन्ध भारत की प्राक्तन जातियों से था। जिस प्रकार भारत में इन्द्रध्वज उत्थापन और पूजन का उत्सव प्रचलित था, उसीसे मिलती जुलती प्रथा योरोप देश के निवासी आर्यों में भी थी। योरोप के कितने ही देशों में मे-दिवस और मे-पोल के उत्सव मनाने की प्रथा है। मे-पोल का अर्थ उसी इन्द्र की वैष्णवी यष्टि का स्मरण दिलाता है। मे-दिवस के उत्सव का स्वरूप कुछ इस प्रकार है। मे-दिवस से पहली सन्ध्या को अथवा उसी दिन अत्यन्त प्रातःकाल उठकर लोग जंगल में से वृक्षों की हरी शाखा प्रशाखाएँ और फूल इकट्ठा करते हैं। गाँव के नई उमर के लड़के-लड़कियों में से किसी एक को उत्सव की रानी या राजा चुनकर उसका अभिषेक करते हैं, और उसके साथ जाकर द्वार द्वार पर गाँव में नाचते गाते हैं, और उत्सव के लिए कुछ धनसंग्रह करते हैं, जिससे देने

वाले को उस ऋतु का वरदान और आशीर्वाद प्राप्त हो। अपने साथ वे फूलमाला और हरी शाखा प्रशाखाओं से बनाया हुआ एक झाड़ जिसे मे-ट्री कहते हैं— ले चलते हैं। इस उत्सव का तीसरा अंग मे-ट्री या मे-पोल का जंगल से काट कर लाना, उसे सजाना, खड़ा करना और उसके चारों ओर नृत्य करना है। किसी एक केन्द्रीय स्थान में रंग बिरंगे कपड़ों से सजाकर इस वृक्ष को खड़ा करते हैं और उसके चारों ओर सामूहिक नृत्य किया जाता है। कुछ गाँवों में ऐसी प्रथा है कि हर घर के सामने आँगन में मे-पोल की स्थापना की जाती है, और उस उस परिवार के सदस्य उसके चारों ओर नृत्य करते हैं। योरोप, अमेरिका और कनाडा में यह वसन्त का महान् उत्सव है।

जंगल में जाना और वहाँ से फूल और हरी शाखाएँ लेकर घर लौटने का अर्थ यह है कि लोग अपने गाँव में नए जीवन के प्रतिनिधि वसन्त का नया आवाहन करते हैं, उसका नया अवतार कराते हैं, उसे अपने यहाँ निमन्त्रण देते हैं (देखिए फ्रेजर, मैजिक आर्ट, भाग २, लन्डन १९११, पृ० ५९)। उस वसन्तयष्टि को और फूलमालाओं को लेकर द्वार द्वार पर जाने का अर्थ है कि सबलोग उस नूतन सृजन की शक्ति में साझीदार बनते हैं, जो वसन्तकाल में प्रकृति के रोएँ रोएँ से फूट पड़ती है, जिसके आगमन से जंगल में मंगल छा पड़ता है, और जिसकी प्रेरणा पाकर उकठे हुए ठूँठ भी नई कोंपलों और कलियों का फुटाव लेने लगते हैं। जनता में एक समान सच्चा उल्लास छा जाता है, और कवि के शब्दों में सब की यही भावना रहती है—यह वसन्त सबकर तेवहारू (पद्मावत १८६।२)। जब नए लड़के लड़कियों की टोलियाँ घर घर जाती हैं, तो उसके साथ गीतों का समा भी बँध जाता है, और रानी या राजा के साथ मिलकर सब गाते हैं कि जो कुछ देगा उसे मन की इच्छा के अनुसार प्रकृति की विकसित समृद्धि का भाग प्राप्त होगा। उस छोटे से दल में राजा, रानी, संगी-साथी, शाखा-वनस्पति, फूल, पल्लव सब नवजीवन के प्रतीक समझे जाते हैं, और ऐसी मान्यता होती है कि उनकी प्रसन्नता से कृषि, पशु, स्त्री सबको नया जीवन और मातृत्वशक्ति की प्राप्ति होगी। कहीं कहीं राजा और रानी बने हुए बालक बालिका एक साथ गाते निकलते हैं, और उन दोनों के हाथों का रूमाल या फूलमालों से गठबन्धन कर दिया जाता है। इंगलैण्ड के बहुत से गाँवों में उत्सव के बाद भी मे-पोल को गाँव के हरियालीभरे मैदान में खड़ा हुआ रहने देते हैं। शायद इसी कारण वहाँ प्रतिवर्ष उसे निमन्त्रण देकर घर लाने की प्रथा के अर्थ को लोग धीरे धीरे भूल गये। किन्तु असली रिवाज यही था कि उत्सव हो जाने के बाद उस पेड़ या लाट को गिरा दिया जाता था। नाया-धम्मकहा में भारतीय प्रथा का उल्लेख करते हुए स्पष्ट कहा है कि इन्द्रमह हो

जाने के बाद रस्सियों के बन्धन खोलकर इन्द्र की लाट गिरा दी जाती थी— निव् वत्तमहे व इन्दलट्ठी विमुक्कसन्धिबन्धणा कुट्टिम तलंसि सव्वंगेहि धर्सात्त पड़िया (नायाधम्मकहाओ १।२७), और भी देखिए—द्रोणपर्व ४१।११, तावन्योन्यं गदाग्राभ्यां संहृत्य पतितौ क्षितौ। इन्द्रध्वजाविवोत्सृष्टौ रणमध्ये परन्तपौ ॥ स्कैनडिनेविया की प्राचीन जनता इस अवसर पर युद्ध का अभिनय करती थी, जिसमें एक ओर शीत ऋतु और दूसरी ओर आनेवाली वसन्त या ग्रीष्म ऋतु के प्रतीक बनकर दोनों दल आपस में संग्राम करते थे और अन्त में वसन्त की ही विजय होती थी। अभी १९ शती तक मे-दिवस का जो उत्सव 'आइल अफ मैन' नामक छोटे से उस द्वीप में प्रचलित था, जो इंगलैण्ड के दक्षिण तट से कुछ दूरी पर है, उसमें ग्रीष्म और वसन्त के द्वन्द का यह अभिनय अवश्य किया जाता था। फ्रेजर आदि विद्वानों का अभिमत है कि इन उत्सवों के मूल अर्थ को लोग चाहे जितना भूल गए हों, वे प्राचीन जन विश्वासों के प्रतीक हैं, एवं राजा रानी का वह गठबन्धन वसन्त और शस्य-संपत्ति के विवाह का ही प्रतीकमात्र है। योरोपीय देशों में मे-पोल को फूलमालाओं से, चीरों से, काँच की गुरियों से या और भी बहुत तरह से सजाते हैं। महाभारत और बृहत् संहिता के वर्णन में इन्द्रध्वज को पंचरंगी चीरखण्डों से, काँच के टुकड़ों से, फूलमालाओं से, और छोटी पिटारिओं से सजाने की प्रथा का उल्लेख है। अपने देश में इन्द्रध्वज उत्सव के अवशेष किस रूप में और किस किस प्रदेश में अभी तक बच गए हैं, इसकी छानबीन भारतीय लोकवार्ता शास्त्र का आवश्यक अंग है।[1]

अन्य मह

नायाधम्मकहा की सूची में लोकप्रचलित १५ छोटी बड़ी यात्राओं का संग्रह है। इन्द्रमह, खन्दमह की भांति वे भी मह नामक उत्सव ही थे। इस प्रकार प्राचीन साहित्य से उन्नीस महउत्सवों की सूची प्राप्त हो जाती है, जो इस प्रकार है—इन्द्रमह, स्कन्दमह, रुद्रमह, शिवमह, वैश्रवणमह, नागमह, यक्षमह, भूतमह, नदीमह, तडागमह, वृक्षमह, चैत्यमह, पर्वतमह, उद्यानमह, गिरिमह, धनुर्मह, काममह, ब्रह्ममह, चन्द्रमह। इनमें से धनुर्मह, गिरिमह और इन्द्रमह का वर्णन ऊपर हो चुका है, उनके विषय में अपेक्षाकृत कुछ अधिक सामग्री उपलब्ध है। जैन ग्रन्थ निशीथचूर्णि के अनुसार इन्दमह या इन्द्रमह, स्कन्दमह, यक्षमह और

---

१. मे पोल उत्सव के वर्णन के लिए मैं 'स्टैण्डर्ड डिक्शनरी अफ फोकलोर मोईथोलोजि एण्ड लीजेण्ड, का अनुगृहीत हूँ (भाग २ पृ० ६९९–१६)। संपादक मैरियालीच, न्यूयार्क, १९५०।

भूतमह ये चारों भारतवर्ष के महामह या बड़े उत्सव थे। इन्द्रमह आषाढ़ पूर्णिमा को, स्कन्दमह आश्विन पूर्णिमा को, यक्षमह कार्तिक पूर्णिमा को और भूतमह चैत्र पूर्णिमा को मनाया जाता था। रामायण में आश्विन की पौर्णमासी को इन्द्रध्वज उत्सव का उल्लेख है (इन्द्रध्वज इवोद्धूतः पौर्णमास्यां महीतले। आश्वयुक् समये मासि गतसत्त्वो विचेतनः—किष्किन्धा १६।३७)। एक दूसरी अनुश्रुति है कि लाट देश में इन्द्रमह श्रावणी पूर्णिमा को मनाया जाता था (निशीथचूर्णि १९, पृ० ११७४, श्री जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन ऐन्शिएन्ट इण्डिया ऐज डेपिक्टेड इन दि जैन कैनन्स, पृ० २१६)।

अध्याय ५

नदीमह

नदीमह का तात्पर्य नदी देवताओं की पूजा और उस सम्बन्ध के उत्सव से था। नदीमह का ही विशेष उदाहरण गंगामह नामक मेला था (काशिका ५।१।१०६), जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। गंगा के समान ही और भी पवित्र नदियों के किनारे इस प्रकार के मेले जुड़ते थे। वैदिक विचारधारा में जल अत्यन्त पवित्र माना जाता था। वैदिक मन्त्रों में आपो देवता का बहुत बार उल्लेख आता है। नदी, समुद्र, सरोवर, निर्झर, कूप, अवट (गड्ढा), मेघ, आदि में निवास करने वाले सब प्रकार के जल अत्यन्त पवित्र माने गए हैं। इसी धार्मिक परम्परा में नदीमह और तडागमह के उत्सव मनाए जाते थे। नदियों का देवस्वरूप वेदों में ही उभर आया है, जहाँ सरस्वती को अत्यन्त पवित्र माना गया है। रामायण और महाभारत में तो नदियों के देवतारूप की बारबार आवृत्ति पाई जाती है। नदियों को यज्ञीय वेदियों की माता कहा गया है, क्योंकि अधिकांश यज्ञों का सिलसिला नदियों के किनारे ही फैला हुआ आगे बढ़ा[1]। सिन्धु, सरस्वती, यमुना, गंगा, नर्मदा, गोदावरी, कावेरी—इन सात महानदियों के उत्संग में आर्यसंस्कृति का क्रमशः विस्तार हुआ और ये सातों ही अत्यन्त पवित्र मानी गईं। भीष्मपर्व में कहा गया है कि सभी नदियाँ विश्व की माताएँ हैं, सभी महाफल देनेवाली हैं। आर्य और म्लेच्छ बिना किसी भेदभाव के मिलजुल कर गंगा, सिन्धु, सरस्वती आदि महानदियों का जल पीते हैं[2]। गंगा भारतीय नदी-देवताओं में सबसे अधिक पवित्र और महत्त्वपूर्ण पदवी को प्राप्त हुई। महाभारत में उसे देवनदी और

---

१. एतानग्न्यस्तु धिष्णयानां मातरो या: प्रकीर्तिता:।
(वनपर्व २१२।२४)

२. विश्वस्य मातर: सर्वा: सर्वाश्चैव महाफला:।
इत्येता: सरितो राजन् समाख्याता यथास्मृति ॥
(भीष्मपर्व ९।३७-३८)

आर्या म्लेच्छाश्च कौरव्य तैर्मिश्रा: पुरुषा विभो।
नदी: पिबन्ति विपुलां गङ्गां सिन्धुं सरस्वतीम् ॥
(भीष्म ९।१३-१४)

लोकनदी भी कहा गया है। वह हिमवान् की पुत्री, शिव की पत्नी और स्कन्द की माता है। अन्तिम उल्लेख कुछ महत्वपूर्ण है। ज्ञात होता है किसी विशेष धार्मिक पृष्ठभूमि में गंगामह और स्कन्दमह इन दोनों परम्पराओं का एक दूसरे के साथ समन्वय हो गया। भारतवर्ष में शायद ही कोई ऐसी नदी जलधारा या जलाशय हो जहाँ वर्ष में एक या अधिक बार धार्मिक स्नान का मेला न लगता हो। नदीमह या नदीयात्रा के समान ही तड़ागयात्रा (तलायजत्त) या तालाब की जात अर्थात् ताल का मेला—इसका भी उल्लेख है। प्रत्येक पोखर और ताल किसी न किसी देवता के निवास का स्थान माना जाता है, और ऐसे ताल जिनमें बारामासी जल भरा रहता हो, धार्मिक दृष्टि से प्रायः पूजा के योग्य समझे जाते हैं। नदीदेवता और तालाबों की अधिष्ठात्री देवताओं का अंकन भारतीय कला में किस रूप में पाया जाता है– इसकी चर्चा आगे की जायगी।

नायाधम्मकहा की सूची में पर्वतयात्रा या गिरियात्रा को अलग अलग कहा गया है। इन दोनों का भेद अब स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः हिमालय और रैवतक जैसे बड़े पर्वतों की पूजा और मेले 'पर्वतमह' और गोवर्द्धन जैसी छोटी डूँगरियों की पूजा 'गिरिमह' कहलाती हो।

अध्याय ६

खन्दमह

खन्दमह से तात्पर्य स्कन्द की पूजा से है। संस्कृत स्कन्द का प्राकृत और पालि रूप खन्द है। पालि साहित्य में खन्द देवता का प्रायः उल्लेख नहीं मिलता, केवल उदानवग्ग की अट्ठकथा में शिव के साथ एक बार खंद देवता का उल्लेख हुआ है, जो लगभग गुप्तकाल का होगा। वेदों में भी स्कन्द का उल्लेख नहीं मिलता, केवल अथर्ववेद के परिशिष्ट ग्रंथों में से २० वें परिशिष्ट का नाम स्कन्दयाग या धूर्तकल्प है, जिसमें स्कन्द की पूजा का विधान है। उसके अनुसार फाल्गुन आषाढ और कार्त्तिक के कृष्णपक्ष में षष्ठी तिथि को स्कन्द की पूजा करनी चाहिए। इस ग्रंथ में स्कन्द को षडानन, ब्रह्मण्य, कार्त्तिकेय भी कहा गया है। किन्तु सबसे आश्चर्यजनक विशेषण 'भगवान् देवो धूर्तः' में स्कन्द की धूर्तसंज्ञा है, जो कई बार दुहराई गई है। वस्तुतः स्कन्दयाग या स्कन्दपूजा को धूर्तकल्प अर्थात् धूर्तसंज्ञक देव की पूजाविधि कहा गया है। गज, सिंह, व्याघ्र एवं मयूर को उसका वाहन माना है। उसके हाथ में शक्ति रहती है और मातृगण नित्य साथ रहता है। सहस्र कन्याएँ उसे सदा घेरे रहती हैं। वह अग्नि और कृत्तिकाओं का पुत्र है, सद्योजात और उग्रकुमार भी उसकी संज्ञा हैं। एक जगह लिखा है—धूर्ताय स्कन्दाय विशाखाय पिनाकसेनाय भ्रातृश्रीकामाय स्वच्छन्दाय वरघण्टाय निर्मिलाय लोहित गात्राय शालकटंकटाय स्वाहा'। धूर्त नाम अन्यत्र नहीं मिलता। शालंकटंकट महाभारत में, रामायण में राक्षसविशेष के नाम है, किन्तु याज्ञवल्क्य स्मृति में (१।२८५) गणपतिकल्प-प्रकरण में दुःस्वप्न की शान्ति का विधान करते हुए शालकटंकट नाम के गणों को आहुति और बलि देने के लिए उल्लेख किया है, उस सूची में कुष्माण्ड भी एक गण है। इन सब नामों से विदित होता है कि स्कन्द के उद्गम का स्तर अत्यन्त निम्न कोटि का था। महाभारत में स्कन्द के सम्बन्ध में जो विस्तृत सामग्री है, उससे उसके मूल स्वरूप एवं विकास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। मूलरूप में स्कन्द की स्थिति पिशाचगण के साथ थी। विकास की पहली पीढ़ी में रुद्र के साथ स्कन्द का समन्वय हुआ, दूसरी में अग्नि के साथ और अन्त में इन्द्र के साथ, जिसके फलस्वरूप वह गुप्तकाल में देवसेना के सेनापति के रूप में अत्यन्त प्रतिष्ठित पदवी को प्राप्त हुआ। इसी विकासक्रम में से एक छोटी सी शाखा और फूटी, जिसके अनुसार स्कन्द बालग्रह या बच्चों का रक्षक देवता माना गया। इस सम्बन्ध में और विस्तार से विचार करना आवश्यक

है। हिन्दू धर्म की स्वाभाविक प्रकृति के अनुसार जैसे जैसे स्कन्द के स्वरूप का विकास होता गया, उसके समर्थन के लिए नये आख्यान बनते चले गये। उन आख्यानों में भिन्न-भिन्न देवों के साथ मूल देवता के सम्बन्ध की कल्पना भी उभरती चली गयी।

महाभारत में कथा है कि लोक में अनेक प्रकार के मांसभक्षी पिशाच थे। स्कन्द भी उनसे घिरा रहता था। इन सब की उत्पत्ति रुद्र के वीर्य से कही गई है। ये सब पिशाचगण इस कारण से रुद्र के पारिषद बन गये। रुद्र इस प्रकार स्कन्द के जनक या पितृत्वपद को प्राप्त हुए। इस सम्बन्ध में वह कथा भी विचारने योग्य है, जिसमें स्कन्द को अद्भुत का पुत्र कहा गया है। अद्भुत प्राचीन साहित्य में यक्ष की संज्ञा थी। उत्तरी भारत के प्राचीन साहित्य में स्कन्द को ब्रह्मण्य कहा गया है, उसका भी यही हेतु जान पड़ता है। सुब्रह्मण्य नाम तो पीछे से दक्षिणी साहित्य में प्रचलित हुआ। उत्तरकालीन वैदिक तथा उपनिषत् की परम्परा में ब्रह्म यक्ष का पर्याय बन गया था, इससे आभास होता है कि पिशाच कोटि से एक पद और ऊँचा उठकर स्कन्द को यक्ष के साथ सम्बन्धित मान लिया गया। वनपर्व के स्कन्दोत्पत्तिआख्यान में उस अद्भुतसंज्ञक तत्त्व को जिसने स्कन्द को जन्म दिया, सूर्य से निकलनेवाली अग्नि विशेष कहा गया है, जो यज्ञ की आवाहनीय अग्नि के साथ मिल गई, दूसरे शब्दों में उसके लिए यह भी कहा गया है कि उसने यज्ञ के सप्तर्षियों की पत्नियों को देखा और वह उनपर मोहित हो गया। अन्त में दक्ष की पत्नी स्वाहा ने शिवा का रूप रखकर उसमें सर्प, राक्षस और पिशाचों से घिरे हुए एक पर्वत पर अद्भुत् के रेत से स्कन्द को जन्म दिया। स्वाहा ने अरुन्धती के सिवा अन्य छह ऋषियों का स्वरूप धारण किया था, इस कारण नवजात शिशु के छह मुख हुए। इस कथा में निषाद और आर्य—इन दो धाराओं के तत्त्वों का सम्मिलन स्पष्ट देखा जा सकता है। महाभारत में रुद्र और अग्नि की परम्पराओं का समन्वय करते हुए स्पष्ट लिखा है कि रुद्र और उमा ने अग्नि और स्वाहा में अपने स्वरूप से प्रवेश किया[1] और उनकी सन्तति के रूप में स्कन्द का जन्म हुआ। रुद्र-शिव के परिवार में सम्मिलित होकर स्कन्द की प्रतिष्ठा में बहुत वृद्धि हुई। वैदिक अग्नि के साथ तो स्कन्द का समन्वय हुआ ही; वैदिक देवों के अधिपति इन्द्र ने भी उन्हें अपना सेनापति स्वीकार किया। मार्कण्डेय सामास्यापर्व के अन्तर्गत एक विशिष्ट उपदेशपूर्ण कथा है। जिसके अनुसार अद्भुत अर्थात् यक्ष और रुद्र के तेज से एक

१. रुद्रेणाग्निं समाविश्य स्वाहामाविश्य चोमया।
हितार्थं सर्वलोकानां जातस्त्वमपराजितः ॥ वनपर्व २२०।९

शिशु का जन्म हुआ, वह स्कन्द कहलाया। मातृगण ने उसकी पूजा की। अनेक घोर ग्रह, उपग्रह और पारिषदों के गण मातृगणों के साथ उस कुमार को घेर कर खड़े हो गये। इन्द्र उससे आशंकित हुआ और ऐरावत हाथी पर चढ़कर उसे मारने आया। किन्तु गुह नाम के उस कुमार ने भयंकर शब्द किया, जिससे देवता सन्त्रस्त हुए। तब इन्द्र ने स्कन्द पर वज्र चलाया। जो उसके दाहिने पार्श्व में लगा। वज्र के प्रहार से स्कन्द के दक्षिण पार्श्व से विशाख नामक एक युवा का जन्म हुआ। वस्तुत: इस कहानी के पीछे तत्व यह है कि लोक में छागमुखी विशाख नामक एक छुटभैये देवता की मान्यता थी, जो सम्भवत: एक बालग्रह था। वह भी स्कन्द के परिवार में मिल गया। आगे चलकर इसी बात को यों कहा गया है कि जो छाग का मुख था, वह भी स्कन्द के मुखों में से एक था (षष्ठं छागमयं वक्त्रं स्कदस्यैवेति विद्धि तत्— वही २१७।१२)। वस्तुत: यह छठा मस्तक स्कन्द के और सब रूपों से श्रेष्ठ समझा गया (षण्णां तु प्रवरं तस्य शीर्षाणामिह शब्यते, शक्तिं येनासृजद् दिव्यां भद्रशाख इति स्म ह—वही १७।१३)। इस प्रकार इन्द्र और स्कन्द के संघर्ष की परिसमाप्ति कथाकार ने बड़े उदात्त रूप में कराई है। सर्वलक्षणसम्पन्न त्रिलोकी के सुप्रिय, शूर, चमकते हुए स्वर्णकुण्डलों से अलंकृत उस युवक के समीप श्री देवी आई और उसने साक्षात् प्रकट होकर उसकी सेवा की, जिसके फलस्वरूप वह श्रेष्ठकुमार एकदम सौन्दर्य से भर गया और सबलोग उसकी ओर उस प्रकार देखने लगे, जैसे पूर्णचन्द्र की ओर देखते हैं— सर्वलक्षणसम्पन्नं त्रैलोक्यस्यापि सुप्रियम्। ततः तं वरदं शूरं युवानं मृष्टकुण्डलम्। अभजत् पद्मरूपा श्रीस्स्वयमेव शरीरिणी। श्रिया जुष्टः पृथुयशाः स्वकुमारवरस्तदा—आरण्यकपर्व २१८।३–४।

सौन्दर्य की अधिष्ठात्री श्रीदेवी का स्कन्द के साथ संपर्क इस बात का प्रतीकात्मक संकेत है कि भयंकर आकृतिवाले तीक्ष्ण दंष्ट्राओं और रक्तनेत्र वाले यक्ष-पिशाच सदृश देवता को ऊँचे उठाकर उसे किसी अभिजात देवता के रूप में परिवर्तित किया जा रहा है। जैसे ही स्कन्द को यह स्वरूप प्राप्त हुआ, महात्मा, ब्राह्मण और महर्षि उसकी स्तुति करने लगे—हे हिरण्यवर्ण देव! तुम्हारा कल्याण हो, तुम लोकों के लिए साक्षात् शंकर के समान हो। तुमने ही, हे देव, सबको अभयदान दिया है, इसलिए तुम्हीं सचमुच अभय देनेवाले इन्द्र हो (हिरण्यवर्ण भद्रंते लोकानां शंकरो भव। त्वया षड्रात्र जातेन सर्वे लोका वशीकृताः॥ अभयं च पुनर्दत्तं त्वयैवैषां सुरोत्तम। तस्मादिन्द्रो भवानस्तु त्रैलोकस्याभयंकर ॥२१८।६–७)।

इसके उत्तर में स्कन्द ने पूछा कि इन्द्र का लोक में क्या कार्य है। ऋषियों ने कहा—इन्द्र प्राणियों को बल, तेज, सुख और सन्तति देता है। वह दुष्टों का

संहार करता है, और सदाचारी लोगों को ये सब वस्तुएँ प्रदान करता है। यही इन्द्र का कर्तव्य है। इन्द्र में बहुत बल होता है। हे वीर, तुम भी बली हो। तुम में भी श्रेष्ठ बल है, अतएव तुम हमारे इन्द्र बनो। इन्द्र ने स्वयं आगे बढ़कर ऋषियों की इस बात का समर्थन किया— हे महाबाहु, हम सब को इसी में प्रसन्नता है कि तुम इन्द्र बनो, और आज ही अपना अभिषेक कराओ। इस पर विनय दिखाते हुए स्कन्द ने कहा— हे शक्र, मैं तो तुम्हारा अनुचर हूँ। मैं इन्द्रत्व नहीं चाहता (अहं ते किंकरः शक्र न ममेन्द्रत्वमीप्सितम्। २१८।१४)। इन्द्र ने फिर एकबार आग्रह किया, किन्तु स्कन्द के दृढ़तापूर्वक अस्वीकार करने पर शक्र ने कहा— अच्छा, यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है तो तुम मेरे कहने से देवताओं के सेनापतिपद पर अपना अभिषेक कराओ, और मैं तुम्हारे कहने से इन्द्र बना रहूँगा (अभिषिष्यस्व देवानां सैनापत्ये महाबल। अहमिन्द्रो भविष्यामि तव वाक्यान् महाबल २१८।२१)। इस कथानक से महाभारतकार का तात्पर्य स्कन्द और इन्द्र इन दोनों के धार्मिक मतों का पूर्ण समन्वय करना था। कथाकार ने स्पष्ट शब्दों में अपने उद्देश्य का प्रतिपादन किया है।

कथा है कि एकबार शिव और पार्वती अपने आदित्यवर्ण रथ पर जिसमें सहस्र शृंग जुते हुए थे— जा रहे थे। उसके आगे गुह्यकों के साथ कुबेर अपने पुष्पक विमान पर थे। पीछे ऐरावत पर सवार इन्द्र देवों के साथ चल रहे थे। जंभक, यक्ष, राक्षसों के साथ एक ओर अमोघ नाम का महायक्ष जा रहा था, दूसरी ओर वसु, रुद्र, मरुत्, यम, मृत्यु सैकड़ों घोर व्याधियों के गण के साथ चल रहे थे। यम के पीछे शिव का घोर विजय नामक असुर था। त्रिशूल के पीछे रुद्र की पटा, गदा, मूसल शक्ति आदिक और उनका छत्र था। उसके पीछे महर्षि गण से संवृत कमण्डलु। इस प्रकार रुद्र की वह सवारी चल रही थी। उसमें नदी, नद, ऋषि, देव, गन्धर्व, भुजंग, नक्षत्र, ग्रह, देवकुमार, अप्सराएँ, पर्जन्य भी सम्मिलित थे। सोम रुद्र के मस्तक पर श्वेत छत्र लगाए था, वायु और अग्नि चामर डुला रहे थे। इन्द्र राजर्षियों के साथ शिव की स्तुति करता हुआ पीछे चल रहा था। गौरी, विद्या, गान्धारी, केशिनी, सावित्री, आदि सब विद्याएँ पार्वती के पीछे चल रही थीं। सबसे आगे राक्षस नाम का ग्रह पताका लिए हुए था। रुद्र का निजी सखा श्मशान में पहरा देने वाला पिंगल नामक यक्षेन्द्र सब के साथ चल रहा था। इस प्रकार रुद्र देवता का पूरा ठाट सजा हुआ था। ऐसे समय कृत्तिकापुत्र ब्रह्मण्य महासेन भी शिव के साथ चल रहे थे। महादेव शिव ने स्कन्द से कहा— तुम मारुतस्कन्ध नामक देवसेना के सातवें दस्ते की रक्षा करो। मेरे दर्शन और भक्ति से तुम्हारा कल्याण होगा। एक ओर जब इतनी तैयारी हो गई, तब दूसरी ओर बड़ा उत्पात उठ खड़ा हुआ। आकाश में मानो आग लग गई। धरती में भूकम्प

आ गया। जगत् में अँधेरा छा गया। शिव पार्वती भी घबड़ा गए। सब देवताओं में भगदड़ पड़ गई। हुआ यह कि उसी समय महिषासुर नामक दैत्य ने इन्द्र सहित सब देवों को मार भगाया। ऐसे समय शिव ने स्कन्द का स्मरण किया और महासेन स्कन्द ने लाल वस्त्र और लाल मालाएँ पहने हुए आगे बढ़कर दैत्य सेना को छेक लिया, और अपनी शक्ति को इतने वेग से छोड़ा कि उससे महिषासुर का सिर कट कर भूमि में गिर पड़ा। ऐसे समय समस्त देवताओं ने इन्द्र के साथ महासेन स्कन्द की पूजा की और कहा—हे स्कन्द, तुमने ब्रह्मा से वर पाकर इस महिष को मारा है, जो देवताओं को तृण के समान समझता था। आज तुमने देवों का यह कण्टक उखाड़ डाला। महिष जैसे सैंकड़ों दानवों को जिन्होंने हमें सताया था—मारकर तुम रण में अजेय हुए हो। यह तुम्हारा पहला प्रसिद्ध कर्म होगा और तीनों लोकों में तुम्हारी अक्षय कीर्ति फैलेगी। हे महासेन, समस्त देवता आज से तुम्हारे वश में हो जाएँगे (आरण्यक पर्व २२१, श्लो० १-७७)। इस आख्यान के अन्त में फलश्रुति का भी निम्नलिखित श्लोक है—स्कन्दस्य य इदं जन्म पठते सुसमाहितः। स पुष्टिमिह संप्राप्य स्कन्दसालोक्यतामियात् ॥ फलश्रुति इस बात का प्रमाण है कि स्कन्दोत्पत्ति नाम का यह प्रकरण महाभारत का मूल अंश नहीं था, किन्तु, बाद में जोड़ा गया, जब देवसेनापति के रूप में स्कन्द को देवता की प्रतिष्ठा प्रदान की गई। इसी सम्बन्ध में इस बात की ओर भी ध्यान जाता है कि महिषासुर के साथ स्कन्द के युद्ध का उपाख्यान इस कथा का केवल एक रूप है। स्कन्द को इसी प्रकार की प्रतिष्ठा प्राप्त कराने वाला दूसरा किन्तु इससे अधिक प्रांजल और आभिजात्यपूर्ण उपाख्यान तारकासुर के विपक्ष में स्कन्द के युद्ध की कल्पना है, जिसकी काव्यमय प्रशस्ति कालिदास की अमर कृति कुमारसंभव है। लगभग ४ थी शती ईसवी में जब भारतीय संस्कृति का स्वर्णयुग था, उस समय हिन्दूधर्म के पूर्व-प्राप्त ऊबड़ खाबड़ उपाख्यानों को सँवारने सजाने का प्रयत्न भारतीय पौराणिकों ने किया। उस समय कितने ही पुराने उपाख्यानों का संस्कार किया गया, कितनों में ही नए पैबन्द लगाए गए, और कितने ही नए आख्यानों की रचना करके जहाँ जो कमी पड़ती थी, उसे पूरा किया गया। प्रायः प्रत्येक देवता के सम्बन्ध में इस प्रकार की सारसंभार गुप्तयुग में हुई और उसके स्वरूप को अनेक भाँति से संस्कारसंपन्न बनाया गया। ऐसी रचनाओं को पहचानने की अचूक कसौटी उनके अन्त में जोड़ी हुई फलश्रुति है। कालिदास के स्कन्द का स्वरूप अत्यन्त प्रभविष्णु हो गया। उस कल्पना में स्कन्द किसी की अनुकंपा से ऊँचे नहीं उठते, किन्तु अपने जन्मसिद्ध अधिकार और तेज से वे महान् देवता का पद प्राप्त करते हैं। कालिदास ने स्कन्दजन्म की कल्पना को योग की नई परंपरा के

साथ मिला दिया था। उन्होंने स्कन्द की यह परिभाषा की है—रक्षाहेतोर्नव-शशिभृता वासवीनां चमूनाम्, अत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः (मेघदूत, १।४३)। इसकी विस्तृत योगपरक व्याख्या हमने अपने 'मेघदूत' ग्रन्थ में 'शिव के स्वरूप' नामक अध्याय में की है। किन्तु लोकधर्म के इतिहास की दृष्टि से ही इन कथाओं पर विचार करने से विचित्र तथ्य सामने आते हैं। उनका मूल रहस्य एक यही है कि इस देश के मनीषी विद्वानों को लोक से जिस प्रकार की भली-बुरी सामग्री प्राप्त हुई, उन्होंने उसकी आलोचना या खण्डन नहीं किया। अनेक स्रोतों से आती हुई उस सामग्री को लेकर अपनी प्रतिभा से उसमें नए नए अर्थों को जोड़ा और उसके धरातल को ऊँचा उठाया। भारतीय लोकधर्म में जिसकी विशाल सामग्री महाभारत की शतसाहस्री संहिता में उपनिबद्ध है, संस्कृति के कितने ही स्तर थे। काल के क्रमिक विकास में उनका स्वच्छन्द आदान प्रदान होता रहा। यहाँ के कथाविदों ने उनमें से किसी का भी निराकरण नहीं किया। सर्वत्र समन्वय को ही अपना प्रधान लक्ष्य बनाया। यह पद्धति देश और काल में अपरिमित विस्तार को प्राप्त हुई। पुराणों में उपाख्यानों के स्वरूप भिन्न-भिन्न होते गए, किन्तु उसमें समन्वय की मूल पद्धति में विघ्न नहीं पड़ा। लोक के स्तर पर धर्मों की परम्पराएँ चलती रहीं। वहाँ भी धार्मिक भेदों के कारण विरोध की प्रवृत्ति को किसी ने बढ़ावा नहीं दिया।

ऊपर कहा जा चुका है कि स्कन्दसम्बन्धी कथाओं की एक छोटी शाखा और भी है, जिसमें स्कन्द की कल्पना बालग्रह के रूप में की गई है। सुश्रुतसंहिता के अनुसार बालग्रहों में सबसे प्रथम और प्रधान स्कन्द नामक ग्रह है, उसी गण में रेवती, पूतना, शकुनि और नैगमेष भी हैं (सुश्रुत, उत्तरतन्त्र २७।३–५)। वहीं कहा गया है—'नमः स्कन्दाय देवाय ग्रहाधिपतये नमः'।[1] ज्ञात होता है कि उस

---

१. सुश्रुत में और भी प्रमाण है—

देवदेवस्य महतः पावकस्य च यः सुतः।
गङ्गो मा कृत्तिकानां च सते शर्म प्रयच्छतु॥ (२८।१३)।
स्कन्दः सृष्टो भगवता देवेन त्रिपुरारिणा।
बिभर्ति चापरां संज्ञां कुमार इति सग्रहः॥
बाललीलाधरो योऽयं देवो रुद्राग्निसंभवः।
मिथ्याचारेषु भगवान् स्वयं नैष प्रवर्तते॥
ततो भगवति स्कन्दे सुरसेनापतौ कृते।
उपतस्थुर्ग्रहाः सर्वे दीप्तशक्तिधरं गुहम्॥

(अ० ३७।८– ११ श्लो०)।

समय कितने ही छोटे छोटे बालग्रह थे, उनमें स्कन्द नाम का ग्रह सबसे प्रमुख माना जाने लगा। इसी को सुश्रुत ने कथा के रूप में यों रखा है कि जब स्कन्द देवसेना के पति चुन लिए गए, तब उनकी शक्ति बढ़ गई। अन्य बालग्रहों ने उनकी सेवा में उपस्थित होकर प्रार्थना की—कृपा कर हमारे लिये वृत्ति बताइये। स्कन्द ने उन्हें शिव के पास भेजा। शिव ने ग्रहों से कहा—मनुष्य देवों की पूजा करते हैं, बदले में देवता मनुष्यों की रक्षा करते हैं। जिन कुलों में देव, पितर, ब्राह्मण साधु, गुरु और अतिथियों का पूजन नहीं होता, जहाँ आचार और शौच की कमी है, ऐसे घरों में जो बच्चे हैं, तुम निडर होकर उन्हें पकड़ो, और अपनी वृत्ति चलाओ। इस प्रकार लोक में ग्रहों को भी स्थान मिला (सुश्रुत, उत्तरतन्त्र, अ० ३७।१२–२२)। इस कथा से हलका-सा एक संकेत प्राप्त होता है कि इन बाल ग्रहों की मान्यता उन नीच जातियों में थी, जो वैदिक और स्मार्त दोनों प्रकार के कर्मकाण्ड से बहिर्भूत थे।

सुश्रुत के समान ही चरकसंहिता और अष्टांगसंग्रह में भी यह बालग्रहों का प्रकरण आया है। पिछले ग्रन्थ के अनुसार शिव ने गुह की रक्षा के लिए बारह ग्रह उत्पन्न किए, ५ पुरुषशरीरधारी और ७ स्त्रीशरीरधारी। इन ग्रहों में स्वग्रह, मेष के मुखवाला नैगमेष ग्रह, पूतना, शकुनि ग्रह, आदि अत्यन्त निम्नकोटि के देवता भी हैं। स्कन्द भी उसी स्तर से उठकर पहले उनके अधिपति के रूप में मान्य हुआ, और पीछे उसकी कुछ और भी प्रतिष्ठा बढ़ी। नैगमेष को कुछ ग्रन्थों में नैगमेय भी कहा गया है, उसका मुख मेष या भेड़ जैसा था। बालग्रह के रूप में उसे स्कन्द का ही एक साथी मान लिया गया। किसी समय लोक में नैगमेष की बहुत मान्यता थी। जैनधर्म की मान्यता के अनुसार नैगमेष नामक देवता ने ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ से भगवान् महावीर के डिम्भ को हटाकर क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में डाल दिया। मथुरा कला में इसकी कई मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। एक मूर्ति में 'भगवा नेमेसो' इस प्रकार का नाम भी ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण है। ज्ञात होता है कि पुरुषविग्रह नैगमेष देवता की पत्नी की कल्पना भी लोक में मान्य हो गई थी। मूर्तियों में कुछ पुरुषाकृति और कुछ स्त्री-आकृति की हैं, किन्तु सब में मस्तक मेष या अज का ही है। दो-एक मूर्ति ऐसी भी हैं, जो विशुद्ध स्त्री-आकृतिवाली हैं, और बच्चों को पालने में रखकर गोद में लिए हुए हैं।

कुषाणकाल के आसपास स्कन्द की पूजा का लोक में अत्यधिक प्रचार था। एक ओर तो कार्त्तिकेय की युद्ध देवता के रूप में मान्यता मिली थी, जैसा कि यौधेयगण की मुद्राओं से विदित होता है। उन पर एक ओर शक्तिधर कार्त्तिकेय की मूर्ति बनी हुई है, और पास में कुक्कुट भी अंकित है। महाभारत से इस

बात का समर्थन होता है कि प्राचीन रोहितक के यौधेयों में कार्त्तिकेय की पूजा का विशेष प्रचार था (कार्त्तिकेयस्य दयितं रोहितकम्)।

किन्तु स्कन्द की लोकमान्यता का एक दूसरा पक्ष भी कुषाणकाल की धार्मिक स्थिति में देखने में आता है। उसका प्रमाण काश्यपसंहिता (अपरनाम वृद्धजीवकीय तन्त्र) के बालग्रहचिकित्साध्याय से प्राप्त होता है। इस दुर्लभ ग्रन्थ की एक ताड़पत्रीय प्रति राजगुरु पं० हेमराज को नेपाल से प्राप्त हुई थी जिसे उन्होंने प्रकाशित किया है। इसके रेवतीकल्प नामक अध्याय में स्कन्दपूजा और रेवती के सम्बन्ध में बहुत मूल्यवान् सामग्री है। वैदिक-साहित्य में रेवती अत्यन्त शुभ और भाग्यप्रद नक्षत्र समझा जाता था। कालान्तर में रेवती और मातृकाओं का एक दूसरे से अभिन्न सम्बन्ध हो गया। पिशाच रूप में स्कन्द के साथ मातृकागण का भी घनिष्ठ सम्बन्ध था। मातृकागण से तात्पर्य उस समय की स्थानीय छोटी मोटी अनेक मातृदेवियों से था। स्कन्द और मातृदेवियों के घनिष्ठ सम्बन्ध की कई कथाएँ महाभारत में भी हैं। स्कन्द के घोर पार्षद कुमार कहलाए जो गर्भस्थ शिशुओं का हरण कर लेते हैं। इसी प्रकार उसके वज्रप्रहार से बहुत-सी कन्याएँ भी उत्पन्न हुई, उन्होंने स्कन्द से वर माँगा कि हम तुम्हारी कृपा से सर्वलोक की माताएँ बनें (भवेम सर्वलोकस्य वयं मातर उत्तमाः। प्रसादात् तव पूज्याश्च प्रियमेतत् कुरुष्व नः—आरण्यकपर्व २१७।७)। स्कन्द ने उसे स्वीकार किया, उनमें से कुछ शिव और कुछ अशिव अर्थात् भली बुरी दोनों तरह की मातृकाएँ लोक में फैल गईं। उस मातृगण ने स्कन्द को अपना पुत्र मान लिया (ततः संकल्प्य पुत्रत्वे स्कन्दं मातृगणोऽगमत्—वही, २१७।६)। महाभारत की सूची में काकी, हलिमा, रुद्रा, बृहली, आर्या, पलाला, मित्रा—ये सात मातृकाओं के नाम हैं। वस्तुतः ये लोक में प्रसिद्ध बहुत-सी निम्नकोटि की देवियाँ रही होंगी। उनकी पूजा का स्कन्द के साथ समन्वय का प्रयत्न महाभारत के इस आख्यान में है। इसी प्रकार लोक में छागमुखी एक बहुत ही हीनकोटि का देवता रहा होगा, जो कि बच्चों के सम्बन्ध में पूजा जाता था। वह लोहिताक्ष और भयङ्कर था, किन्तु स्कन्द और मातृगण के साथ मिलकर और उनसे अर्चित होकर वह भद्रशाख नाम से प्रसिद्ध हुआ, अर्थात् उसे भी प्रतिष्ठा मिल गई, इसे ही ऊपर नैगमेष कहा गया है। उस समय लोक में छोटी छोटी देवियों की संख्या कितनी अधिक थी, और किस प्रकार उनका समन्वय किया गया, यह काश्यपसंहिता के रेवतीकल्प से और भी अधिक स्पष्ट होता है। मथुरा के भागवतधर्म की छत्रछाया में समन्वय प्रधान दृष्टिकोण का आन्दोलन लोकव्यापी हो रहा था। अतएव छोटे मोटे अनेक देवी-देवताओं को एकसूत्र में पिरोकर उनका सम्बन्ध किसी अन्तर्यामी महान् देवता के साथ जोड़ने की युक्ति अपनाई गई। भागवतधर्म के आचार्य इस

प्रक्रिया को विभूतियोग कहते थे। लोक के छोटे देवताओं को एक चैतन्यतत्त्व का ही रूपान्तर प्रख्यात करने की प्रवृत्ति गीता के दशमाध्याय में पूर्ण मात्रा में पाई जाती है, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। स्कन्द और मातृपूजा के साथ भी भी वैसा ही हुआ। एक ओर स्कन्द का समन्वय शिव के साथ, दूसरी ओर मातृकाओं का समन्वय रेवती के साथ, और फिर स्कन्द और रेवती इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध किया गया है। रेवतीकल्प में स्पष्ट कहा है—अज एकपात् अहिर्बुध्न्यो हरो वैश्वानरो बहुरूपस्त्र्यम्बको विश्वरूपः स्थाणुः शिवो रुद्र इत्येते पुरा दश रुद्रा आसन्। तेषां गुह एकादशोऽभवत्.........तस्मात् सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु छन्दःसु सर्वासु देवतासु स्कन्दो राजा अधिपतिरित्युच्यते। तस्मै नमो नम इत्युक्त्वा सर्वानिर्थानारभेत, सिध्यन्ति य एवं वेद (रेवती कल्प ६)।

इसी प्रकरण में अनेक छोटी छोटी देवियों की सूची लिखकर उन सब को रेवती का ही रूप बताया गया है—सैषा वृद्धजीवक रेवती बहुरूपा, जातहारिणी पिलिपिच्छिकेति चोच्यते रौद्रीति चोच्यते, वारुणीति चोच्यते, अर्थात् रेवती अनेक रूप वाली देवी है, उसे जातहारिणी कहते हैं। कहा है कि रेवती देवी ने मानुषी और अमानुषी इन सबके गर्भों में असुरों को प्रविष्ट हुए देखा, उसने जातहारिणी का रूप रख कर उन असुरों का बध किया। इसलिए जातहारिणी वह है जो वेलों के पुष्पों को सुखा देती है, जो बच्चों के शरीरों को सुखा डालती है, जो गर्भ का नाश करती है, जो उत्पन्न हुओं को मार डालती है, जो जन्म लेते हुओं को मार डालती है, और जो भविष्य में जन्म लेने वालों का भी वध कर देती है। इस प्रकार नानारूपधारी यह जातहारिणी सर्वत्र फैली हुई है, लोक भेद से वह तीन प्रकार की है - दैवी, मानुषी और तिरश्चीना, या पक्षियों में रहने वाली। जात-हारिणी के रूप में भगवती रेवती बहुरूपी होकर तीनों लोकों में व्याप्त हैं (अथ खलु वृद्धजीवक त्रिविधैव जातहारिणी प्रोच्यते, लोकभेदतः दैवी मानुषी तिरश्चीनेति तस्मात् त्रयो लोका भगवत्या रेवत्या बहुरूपया व्याप्ता। पृ० १६०)।

इस रेवती के अनेक रूप और अनेक नाम थे। इसी संहिता में अन्यत्र कहा है—

नामभिर्बहुभिश्चैव त्वां वक्ष्यन्ति जना भुवि।
वारुणी रेवती ब्राह्मी कुमारी बहुपुत्रिका॥

शुष्का षष्ठी च यमिका धरणी मुखमण्डिका।
माता शीतवती कण्डूः पूतनाऽथ निरुञ्चिका॥

रोदनी भूतमाता च लोकमाता महीति च।
शरण्या पुण्यकीर्तिश्च नामानि तव विंशतिः॥ (वही पृ०६७)।

इस सूची में ब्राह्मी कुमारी वारुणी— ये नाम प्रसिद्ध सप्त मातृकाओं में से हैं। इसी प्रकार शीतवती, पूतना, मुखमण्डिका—ये नाम बालग्रह सूची में से हैं। इससे सिद्ध होता है कि किस प्रकार भिन्न-भिन्न लोकमान्यताओं की छोटी-छोटी धाराएँ भिन्न-भिन्न स्रोतों से आकर रेवती के स्वरूप में अन्तर्लीन हो रही थीं। इसके साथ ही बहुपुत्रिका नाम विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। वस्तुतः बहुपुत्रिका और जातहारिणी—ये दोनों ही नाम बौद्ध देवी हारीती की ओर संकेत करते हैं। हारीती और जातहारिणी इन दोनों का अर्थ समान है। जातहारिणी शब्द में जात का अर्थ है बाल या शिशु। बच्चों का हरण करने के कारण ही हारीती नामक बौद्ध देवी का यह नाम पड़ा था। हारीती भी एक लोकदेवी थी। कहानी के अनुसार वह राजगृह की बालघातिनी कोई क्रूर देवी थी, जो वहाँ के बच्चों को पकड़कर उनका भक्षण कर लिया करती थी। उसके अपने भी बहुत से बच्चे थे। कहा जाता है कि उनकी संख्या ५०० थी। एकबार जब बुद्ध राजगृह आये तो लोगों ने उनसे हारीती की शिकायत की। बुद्ध ने हारीती के एक बालक को छिपा लिया, यह जानकर अपने खोये हुए बच्चे के लिए उसको बहुत दुःख हुआ, और उसे चारों ओर ढूँढने लगी। उपयुक्त समय जानकर बुद्ध ने उसे समझाया—तुम अपने एक बच्चे के लिए इतना दुःख मानती है तो फिर उन माताओं का क्या हाल होता होगा, जिनके बच्चे तुम खा डालती है। इस उपदेश का उसपर बहुत अच्छा प्रभाव हुआ। उसने बुद्ध की शरण लेकर प्रतिज्ञा की कि वह आगे से ऐसा नहीं करेगी। बुद्ध ने उसे क्षमा कर दिया, और भविष्य में वह बच्चों की अधिष्ठात्री देवी और रक्षक बन गई। सर्वत्र उसकी पूजा होने लगी। हारीती की पूजा लोक में कितनी अधिक व्याप्त थी, इसका अनुमान करना कठिन है। मगध से लेकर मध्यएशिया तक और गन्धार से लेकर अजन्ता की गुफाओं तक में हारीती देवी की मूर्तियाँ और चित्र पाये गये हैं। इस प्रकार लोकसम्मत देवी की अनेक नामों से और अनेक रूपों से ख्याति स्वाभाविक थी, अतएव जिस जातहारिणी देवी का रेवतीकल्प के लेखक ने इतना विस्तृत विवरण किया है, वह हारीती का ही रूप थी। बहुपुत्रिका नाम की संगति भी हारीती के बहुत से पुत्रों के कारण समझी जा सकती है। कला में हारीती का अंकन प्रायः बहुत से बच्चों के साथ किया जाता है, कुछ उसकी गोद में बैठे होते हैं, कुछ कभी कन्धों पर और कुछ पैरों के पास खेलते दिखाई देते हैं। इस प्रकार के हँसते खेलते बच्चों का अंकन भारतीय कला का एक प्रिय अभिप्राय ही बन गया था। वासवदत्ता के लेखक सुबन्धु ने उसे 'कुमार-क्रीड़ितक' कहा है। गुप्तकालीन मन्दिरों की जगती के शिलापट्टों पर कुमार-क्रीड़ितक अलंकरण का बहुत ही सुन्दर चित्रण पाया जाता है। भूमरा

के शिवमन्दिर से प्राप्त जगती के शिलापट्टों पर यह अंकन विशेषरूप से सुन्दर हुआ है।

जात-हारिणी अथवा हारीती के संबन्ध की दो बातें और भी ध्यान में आती हैं। एक तो हारीती को बौद्ध मान्यता में राजगृह की देवी कहा गया है, किन्तु राजगृह की यह स्थानीय देवी शीघ्र ही अन्य स्थानीय देवियों के साथ घुल मिल कर एक हो गई। विशेषतः गन्धार देश में हारीति की पूजा का बहुत अधिक प्रचार हुआ। कुछ कथानकों के अनुसार तो बुद्ध ने गन्धार में ही हारीती को अपने उपदेश से दयाधर्म में दीक्षित किया था। गन्धार कला में हारीती की बहुत सी मूर्तियाँ और उसके स्तूप भी पाए गए हैं। वस्तुतः बात यह थी कि गन्धार देश में स्वयं एक स्थानीय क्रूर देवी की मान्यता चली आती थी। उसका नाम भीमा देवी था। भीमा देवी का मन्दिर होतीमर्दान के समीप पहाड़ी पर अभी तक है। चीनी यात्री श्युआन च्वाँग ने इसका वर्णन किया है (वाटर्स १।२२१)। फूशे ने गन्धार की प्राचीन राजधानी पुष्कलावती और सिन्धनद पर स्थित उद्भाण्ड या ओहिन्द के बीच में स्थित पलुस के निकट भीमा पर्वत का उल्लेख किया है (फूशे ल वैया रूट अर्थात् तक्षशिला और बाह्लीक के बीच का प्राचीन पथ, चित्र ९)। उत्तर पश्चिम की भीमा देवी ही प्राचीन हारीती के रूप में बदल गई जिसे बुद्ध ने जीत कर सौम्य बनाया (वाटर्स १।२१५)। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार भीमा देवी हिमवन्तपर्वत पर कहीं थी (८१।४५-४६)। किन्तु वनपर्वत के तीर्थ-यात्रा पर्व में पंचनद के बाद भीमादेवी के स्थान का उल्लेख किया गया है, जो कि ठीक उसी ओर संकेत करता है, जहाँ भीमा का वर्तमान मन्दिर है (अथ पंचनदं गत्वा नियतो नियतासनः, पंचयज्ञा नवाप्नोति क्रमशो येऽनुकीर्तिताः, ततो गच्छेत् धर्मज्ञ भीमायाः स्थानमुत्तमम् तत्र स्नात्वा तु योन्यां वै नरो भरतसत्तम (आरण्यक पर्व ८०।९९-१००)। इस उल्लेख से यह भी विदित होता है कि भीमा पर्वत पर भीमा देवी के मन्दिर में उस समय कोई मूर्ति न थी, वह एक योनि तीर्थ था, संभवतः किसी कुण्ड के रूप में देवी की मान्यता रही हो। पंजाब में बँटवारे से पहले तक वहाँ के लोग भीमा देवी के दर्शन करने जाते थे, और यात्रा से लौटे हुए व्यक्ति अपने पुत्रों का नाम 'भीमादत्त' इस प्रकार रख लिया करते थे। काशी, जगन्नाथ, द्वारका, रामेश्वर, बदरीनाथ आदि की तीर्थयात्राओं से लौटने पर जन्म लेने वाले बच्चों के नाम उस उस तीर्थ से इसी पद्धति के अनुसार लोक में रख लिए जाते हैं।

ऊपर कहा गया है कि हारीती राजगृह की देवी थी। न केवल बौद्धों ने लोक की उस देवी को अपना लिया, बल्कि ब्राह्मण परम्परा में भी वैसा ही किया गया। जिस समय कृष्ण ने जरासन्ध के वध का प्रस्ताव रक्खा, युधिष्ठिर ने पूछा—महाराज,

यह जरासन्ध कौन है ? कृष्ण ने उत्तर दिया—मगध जनपद में बृहद्रथ नाम का राजा था, उसने काशी के राजा की दो पुत्रियों से विवाह किया, उसके कोई पुत्र न हुआ। तब चण्डकौशिक ऋषि ने उसे एक फल दिया। राजा ने वह फल दोनों रानियों को दे दिया। हरेक ने उसमें से आधा आधा खा लिया। समय पर उन्होंने दो मांस पिंडों को जन्म दिया, जो एक ही बालक के दो भाग थे। वे दोनों बहनें बहुत डर गईं, तब धात्रियों ने उन दोनों टुकड़ों को अन्तःपुर से बाहर चौराहे पर फेंक दिया। तब मांस और शोणित का भोजन करनेवाली जरा नाम की एक राक्षसी ने उन दोनों टुकड़ों को लेकर जोड़ दिया। उसकी सूचना पाकर राजा वहाँ आया और उस पुत्र को लेना चाहा। राक्षसी ने मनुष्य का रूप रख कर राजा से कहा—मैं पुत्रलोभी राजा के राज्य में न रहूँगी। इस पुत्र को अब तू ग्रहण कर। तब राजा ने प्रसन्न होकर उससे पूछा हे कल्याणि, तू कौन है ? पुत्रदायिनी, तू मुझे देवता जान पड़ती है। तब राक्षसी ने कहा—हे राजेन्द्र, मैं जरा नाम की राक्षसी हूँ। मैं इच्छानुसार रूप रख लेती हूँ। बहुत दिन तक तुम्हारे घर में सुख से रही। इसलिए तुम्हारा प्रत्युपकार करना चाहती थी। वह अवसर मुझे मिल गया। इतनी कथा सुनाकर कृष्ण ने कहा कि इस प्रकार राजा से कह कर वह वहीं अन्तर्धान हो गई और राजा बृहद्रथ बच्चे को लेकर घर आ गए। राजा ने समस्त मगध जनपद के निवासिओं को यह आज्ञा दी कि उस जरा राक्षसी का महोत्सव मनाया करें (सभापर्व, अ० १६–१७)। यहीं कथा के कुछ श्लोकों में जो पूना संस्करण में प्रक्षिप्त माने गए हैं यह भी लिखा है कि वह जरा नाम की राक्षसी किसी समय राजगृह की गृहदेवी थी, और राजमहल में भींत पर उसका चित्र लिखा जाता था, जिसमें उसके बहुत से पुत्रों की आकृति भी साथ में अंकित की जाती थी (गृहे गृहे मनुष्याणां नित्यं तिष्ठति राक्षसी, गृहदेवीति नाम्ना वै पुरा सृष्टा स्वयंभुवा, त्वद्गृहे तिष्ठमाना तु पूजिताऽहं सदा विभो, लिखितां चैव कुड्येषु पुत्रैर्बहुभिरावृता, यो मां भक्त्या लिखेत् कुड्ये सपुत्रां यौवनान्विताम्, गृहे तस्य भवेद् वृद्धिरन्यथा क्षयमाप्नुयात् (सभापर्व, पूना संस्क. पृ ९४)। यहां लोक देवी के प्रायः सभी तत्व स्पष्ट है। राजगृह के चारों ओर पहले आदिम निवासियों की बस्ती थी, उन्हीं के बीच में मांस और शोणित का भोजन करने वाली कोई गृह देवी पूजी जाती थी, उसी को जरा राक्षसी कहा गया है। बौद्ध परंपरा में हारीती नाम से प्रसिद्ध हुई जातहारिणी भी उसी का रूप था। ऐसा प्रतीत होता है कि लोक में प्रचलित अहोई अथवा होई माता की कहानी भी उसी प्राचीन हारीती की परंपरा में हैं। कम से कम यह बात तो सच है कि जिस प्रकार राजगृह में घर घर स्त्रियां भीतों पर जरा या हारीती का चित्र लिखकर उसकी पूजा करने लगी

थीं, उसी प्रकार कार्त्तिक महीने में कृष्णपक्ष की सप्तमी के दिन अहोई का चित्र लिखकर उसकी पूजा की जाती है जिसमें अहोईमाता द्वारा किसी स्त्री के ७ बच्चों के खा डालने और फिर प्रसन्न होकर उन्हें जीवित कर देने की कथा का चित्रण किया जाता है।

जितने प्रकार के घोर ग्रह थे उन सबका अन्तर्भाव स्कन्द में और जितने प्रकार की भयंकर मातृ देवियाँ थीं उनका अन्तर्भाव स्कन्द की पत्नी देवसेना षष्ठी या भद्रा में हो गया। महाभारत में इन ग्रहों को स्कन्द का रौद्ररूप कहा गया है। वह प्रजाओं का भक्षण करने के लिये प्रजाओं के शरीर से उत्पन्न हुआ। ये ग्रह मांस और मधु के लोभी थे। अवश्य ही असभ्य आदिम जातियों में मांस और मधु से इन ग्रहों की तृप्ति की जाती होगी। १८ ग्रहों का नाम महाभारत में गिनाया गया है, और भी बहुत रहे होंगे (इमे त्वष्टादशान्ये वै ग्रहा मांसमधुप्रियाः, द्विपञ्चरात्रं तिष्ठन्ति सततं सूतिका गृहे—आरण्यक पर्व ११९।३५)। इन्हीं में से एक ग्रह स्कन्दापस्मार था। महारौद्री विनता को ही शकुनिग्रह कहने लगे। पूतना राक्षसी पूतना ग्रह बन गई। दूसरी दारुण आकृति की पिशाची शीतपूतना कहलाई, जो मानुषी स्त्रियों के गर्भ का हरण कर लेती है। दैत्यों की माता दिति का नाम मुखमण्डिका ग्रह हुआ, जिसे शिशुमांस बहुत प्यारा है। अनेक प्रकार के कुमारग्रह और कुमारी ग्रह भी थे, वे सभी गर्भ को नोच कर खाने वाले थे। कुमारी ग्रहों के पति कुमार ग्रह थे, जो अत्यन्त क्रूरकर्मा होने से अनजान में ही बच्चों को हर ले जाते थे। गायों की माता जो सुरभि कहलाती थी, उसी पर चढ़कर शकुनिग्रह की देवी छोटे बच्चों को खाया करती है। कुत्तों की माता सरमा भी मानुषी स्त्रियों का गर्भ हर ले जाती है। करंज के पेड़ में रहनेवाली वृक्षों की माता को भी लोग करंजवृक्ष की पूजा द्वारा प्रसन्न करते हैं। नागों की माता कद्रू सूक्ष्मरूप बनाकर गर्भ का भक्षण कर जाती है। गन्धर्वों की माता अनजान में ही गर्भ को कहीं उड़ा ले जाती है। अप्सराओंकी माता गर्भ को पकड़ कर बैठ जाती हैं। लोहित के उदधि की कन्या देवी लोहितायनी स्कन्द की धात्री है। कदम्ब के वृक्ष पर लोग उसकी पूजा करते हैं। देवों की माता अदिति का ही दूसरा नाम रेवती है, उसी के नाम से रैवत ग्रह का नाम हुआ। वह क्रूर महाग्रह भी बच्चों को बड़ा कष्ट देता है। पुरुषों में जैसे रुद्र हैं, ऐसे ही स्त्रियों में आर्या हैं, जो स्वयं स्कन्द की माता थी। मनोकामना की पूर्ति के लिए लोग उसे अलग पूजते हैं। ये जो महाग्रह है, ये १६ वर्ष की आयु तक बच्चों के लिए भयंकर रहते हैं, फिर ठीक हो जाते हैं। जितने भी मातृगण हैं, और जितने पुरुषग्रह हैं, सब को स्कन्द ग्रह ही समझना चाहिए (ये च मातृगणाः प्रोक्ताः पुरुषाश्चैव ये ग्रहाः, सर्वे स्कन्दग्रहा नाम ज्ञेया नित्यं शरीरिभिः—आरण्यक २१९।४२)। इसके अतिरिक्त

भी महाभारत के इस प्रकरण के लेखक ने देवग्रह, पितृग्रह, सिद्धग्रह, राक्षसग्रह, गान्धर्वग्रह, यक्षग्रह, पिशाचग्रह, इत्यादि ग्रहों का परिगणन किया है। वे सब भी स्कन्द और रुद्र के ही रूप है। यह निश्चित है कि लोक में जितने भी छोटे बड़े मधु-मांस प्रिय घोर ग्रह थे, अन्ततोगत्वा उन सब का अन्तर्भाव कुषाण काल के लगभग स्कन्द नामक एक देवता में हो गया। इसी प्रकार जितनी मातृकाएँ थी; उन्हें कहीं तो स्कन्द की माता कहा गया जैसे स्वयं स्कन्द के मुख से कहलाया गया है—मातरो हि भवत्यो मे सुतो वोऽहमनिन्दिताः (वही २१९।६) और कहीं उन्हें षष्ठी रेवती के साथ समन्वित करके स्कन्द की पत्नी मान लिया गया। मातृकाओं के लिए स्पष्ट कहा गया है—अथ मातृगणाः सर्वः स्कन्दं वचनमब्रवीत्, वयं सर्वस्य लोकस्य मातरः कविभिः स्मृताः। यासु ताः मातरः पूर्व लोकस्यास्य प्रकल्पिताः, अस्माकं तद् भवेत् स्थानं तासां चैव न तद् भवेत्, भवेम पूज्या लोकस्य न ताः पूज्याः सुरर्षभ (वही २१९।१४–२६-१७), अर्थात् लोक में पहले जितनी तरह की माताएँ थीं, वे सब स्कन्द से सम्बन्धित मातृगण में मिल गई। पहली माताओं की जगह नई माताओं ने ले ली। पहले वाली माताओं के लिए कोई स्थान न रहा। सब लोगों को हमारी ही पूजा करनी चाहिए, उनकी नहीं। पुरानी मातृकाओं की जगह लोक में जिन माताओं की प्रतिष्ठा बढ़ी, उनमें से एक रेवती थी। रेवती को महाभारत में अदिति का रूप कहा गया है[1], जो देवों की माता थी। सम्भवतः इसीलिए और सब माताओं की अपेक्षा रेवती का नाम ही ऊपर उभर आया और वही प्रधान मातृका मानी जाने लगी जैसा कि काश्यपसंहिता के रेवतीकल्प से सर्वथा निश्चित होता है।

इसी के साथ दूसरी प्रक्रिया षष्ठी नामकी एक नई देवी का उत्थान और रेवती के साथ उसका समन्वय या एकात्मभाव था। जितने ग्रह और मातृ गण ऊपर कह गए हैं, वे मुख्यतः बालग्रह थे। हारीती या जातहारिणी, देवी भी गर्भस्थ या उत्पन्न शिशुओं का संहार करनेवाली थी। उसका जो रक्षात्मक रूप था, वह उस देवी के रूप में मान्य हुआ, जिसकी पूजा बच्चे के जन्म के छठे दिन की जाती थी। स्कन्द का सम्बन्ध षष्ठी तिथि से बराबर कहा गया है। षष्ठी तिथि की देवी भी षष्ठी कहलाई। महाभारत में कहा है—एवं स्कन्दस्य महिषीं देवसेनां विदुर्बुधाः, षष्ठीं यां ब्राह्मणाः प्राहुर्लक्ष्मीमाशां सुखप्रदाम्, सिनीवालीं कुहूं चैव सद्वृत्तिमपराजिताम्, यदा स्कन्दः पतिर्लब्धः शाश्वतो देवसेनया, तदा तमाश्रयल्लक्ष्मीः स्वयं देवी शरीरिणी, श्रीजुष्टपञ्चमीं स्कन्दस्तस्माच् छ्रीपञ्चमी

---

१. अदितिं रेवतीं प्राहुर्ग्रहस्तस्यास्तु रैवतः। (आरण्यक पर्व २१९।२८)

स्मृता, षष्ठ्यां कृतार्थोऽभूद् यस्मात् तस्मात् षष्ठी महातिथिः (आरण्यक पर्व, २१८।४७–४९)। स्पष्ट ही यहाँ देवसेना, षष्ठी और लक्ष्मी को एकात्मकता या तादात्म्य की दृष्टि से देखा गया है। लोक की जो मान्यताएँ होती है, वे अपने स्वाभाविक क्रम से मुड़ती हुई और नए नए तथ्यों को लपेटती हुई तथा बहुत से बिखरे हुए पुराने विश्वासों को एकत्र समेटती हुई आगे बढ़ती हैं। पुराणों के लेखक युग-युग में अपनी समकालीन स्थिति का दिग्दर्शनमात्र कराते हैं। उनके वर्णन उस साहित्यिक दर्पण के समान है, जिसमें लोक की वास्तविक स्थिति का प्रतिबिम्ब पड़ता है। वे स्वयं और कुछ नहीं करते, अपनी समन्वयप्रधान बुद्धि से सहानुभूतिपूर्वक धार्मिक समन्वय की लोकव्यापी प्रक्रिया को पहचान कर उसका लेखा-जोखा तैयार कर देते हैं। लोक की निजी मान्यता अथवा जन-विश्वासों को उधेड़ना न तो किसी पुराण लेखक के वश की बात थी, न उसका क्षेत्र ही। भारतीय लोक के धार्मिक जीवन का यह तथ्य महाभारत और पुराणों के इन वर्णनों को आंख खोलकर पढ़ते हुए बारबार मन पर छप जाता है।

बहुरूपा रेवती देवी स्कन्द की आज्ञा से ही सब जातियों में प्रवेश करके अधार्मिकों को भुलावे में डालती और दुष्टों का विच्छेद करतो है (सैषा स्कन्दवराज्ञया सर्वजातिषु भूता याऽधार्मिकाणि मूढयति असतां विच्छेदाय—काश्यपसंहिता, रेवतीकल्प, पृ० १५४)। अपने कल्याणकारी रूप में यही रेवतो जब षष्ठी बनी, तो उसके परिवार या व्यूह की कल्पना जिस प्रकार की गई, उसके विषय में काश्यपसंहिता से मूल्यवान् सामग्री प्राप्त होती है। वहां लिखा है कि गुह ने उग्र तप द्वारा स्कन्द की आराधना की और रेवती से कहा—

भ्रातॄणां च चतुर्णां वै पञ्चमो नन्दिकेश्वरः
भ्राता त्वं भगिनी षष्ठी लोके ख्याता भविष्यसि
यथा मां पूजयिष्यन्ति तथा त्वां सर्वदेहिनः
अस्मत्तुल्यप्रभावात्वं भ्रातृमध्यगता सदा
षण्मुखी नित्यललिता वरदा कामरूपिणी
षष्ठी च ते तिथिः पूज्या पुण्या लोके भविष्यति
इत्येवं भगिनी जज्ञे षष्ठी स्कन्दस्य धीमतः
तस्मात् सा सततं पूज्या सा हि मूलं सुखायुषोः
तस्माच्च सूतिकाषष्ठीं पक्षषष्ठीं च पूजयेत्
उद्दिश्य षण्मुखीं षष्ठीं तथा लोकेषु नन्दति
इत्येवं रेवती जज्ञे सुरासुरनमस्कृता॥

(काश्यपसंहिता, बालग्रहचिकित्सताध्याय, पृ०, ६७)।

अर्थात् स्कन्द के चार भाई थे। उनमें पाँचवा भाई नन्दिकेश्वर हुआ, और छठी बहिन 'षष्ठी' इसी नाम से लोक में प्रसिद्ध हुई। यह षष्ठी तीन रूपों में पूजी जाती थी, सूतिका षष्ठी, पक्ष षष्ठी और षरामुखी षष्ठी। ये सब रेवती के ही भिन्न-भिन्न रूप उत्पन्न हुए। यह उल्लेख पुरातत्त्व की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः इस उद्धरण की समुचित व्याख्या पुरातत्त्व के प्रमाणों से ही समझी जा सकती है। स्कन्द के चार भाई कौन थे इस प्रश्न का उत्तर कुषाण सम्राट् हुविष्क की उस सुवर्णमुद्रा से मिलता है, जिस पर इन चारों भाइयों के नामों का अभिलेख है। स्कन्दो कोमारो विजागो महासेनो अर्थात् स्कन्दकुमार, विशाख और महासेन। इसी मुद्रा के दूसरी ओर नन्दी वृष के सहारे खड़े हुए शिव का अंकन है, वहीं पाँचवे भाई नन्दिकेश्वर की मूर्ति है। महासेन स्कन्द विशाख और कुमार ये पृथक्-पृथक् देवता थे, जो कालक्रम से एकरूप होकर स्कन्द-मय बन गए। इनकी बहन षष्ठी देवी का प्रभाव भी लोक में इन्हीं के तुल्य था (अस्मात् तुल्य प्रभावा त्वं भ्रातृमध्यगता सदा)। षष्ठी के जो तीन रूप हुए उनमें सूतिका षष्ठी वह रूप है, जिसकी पूजा बच्चों के सम्बन्ध में पहले भी की जाती थी और विशेष रूप से छठी के दिन आजतक की जाती है। सूतिका षष्ठी या बच्चों के जन्म समय पूजी जानेवाली षष्ठी के अतिरिक्त बाण ने आर्यवृद्धा और जातमातृदेवता के पूजन का भी उल्लेख किया है। आर्यवृद्धा तो वही ज्ञात होती है, जिसे महाभारत में आर्या[1] और वृद्धिका (स्त्रियो मानुषमांसादा वृद्धिका नाम नामतः। वृक्षेषु जातास्ता देव्यो नमस्कार्या प्रजार्थिभिः, २२०।१६) कहा गया। लोक में अभी तक छठी की रात में 'वीमाता' की पूजा की जाती है। ऐसा समझा जाता है कि 'वीमाता' बच्चे को देखने आती है। 'वीमाता' के गीत वीहाई के गीत कहलाते हैं, जो छठी को रात्रि-जागरण के समय गाये जाते हैं। 'वीमाता' संस्कृत विधिमाता और विधाई संस्कृत विधात्री का रूप ज्ञात होता है। जातमातृदेवता का चित्र षष्ठी पूजन में वस्त्र या काष्ठफलक पर बनाया जाता था। हर्षचरित में जातमातृदेवता को बहुत से बच्चों से घिरी हुई कहा है (साक्षत् जातमातृदेवता इव बहुबालकव्याकुला ननृतुर्वृद्धधात्र्यः—उछ्वास ४ पृ० १२६)। धनपाल की तिलकमञ्जरी में भी जातमातृदेवी का उल्लेख है (आहरत भगवतीं षष्ठीदेवीम् आलिखत जातमातृपटलम्, आरभध्व-मार्यवृद्धासपर्याम्; तिलकमञ्जरी, पृ० ७७)। जातमातृदेवी के विषय में टीकाकार शंकर ने लिखा है—जातमातृदेवता मार्जारानना बहुपुत्रपरिवारा सूतिकागृहे स्थाप्यते, अर्थात् जातमातृदेवी के दो लक्षण विशेष थे। एक तो वह बहुत से

---

१. आर्या माता कुमारस्य २१०।४० :

बालकों से घिरी रहती है और दूसरे उसकी मुखाकृति बिल्ली जैसी होती है। नानार्थार्णवसंक्षेप कोष से ज्ञात होता है कि मार्जारमुखी इस देवी का ही नाम चर्चादेवी था (चर्चा मार्जारकर्णिका—१।४०० नानार्थार्णव)। काशी खण्ड के अनुसार काशी में चर्चिकादेवी का भी मन्दिर था (काशीखण्ड अ० ६७)। परमार राजा नरवर्म देव (११०४–३३) के भिलसा शिलालेख में चर्चिका देवी की स्तुति करते हुए उसे अपनी कुलदेवी कहा गया है, जिसके लिए एक मन्दिर की स्थापना की गई थी (भण्डारकर, भारतीय शिलालेखों की सूची संख्या १६५८; प्रोग्रेस रिपोर्ट वेस्टर्न सर्कल १९१३–१४, पृ० ५६)। चर्चिकादेवी ही लोक में छाछीदेवी के नाम से विख्यात हुई, जिसके मन्दिर अभी तक सुने जाते हैं (लखनऊ के चौक मुहल्ले में अभी तक छाछीदेवी का मन्दिर और कुँआ है)। इसी प्रकार षष्ठीदेवी की भी गुप्तकाल में सार्वजनिक मान्यता थी। रीवाँ प्रदेश के सुपिया नामक स्थान से मिले हुए स्कन्दगुप्त के समय के एक लेख में षष्ठीदेवी की पूजा और स्थापना का उल्लेख है। राजघाट से प्राप्त गुप्तकालीन मिट्टी की मुहरों पर षष्ठीदत्त यह नाम भी पाया गया है। काश्यप-संहिता में जिसे पक्षषष्ठी कहा है, उसकी मिट्टी की मूर्तियाँ प्राचीन पुरातत्त्व की सामग्री के अन्तर्गत पाई गई हैं, जो शुङ्गकाल से कुषाणकाल तक की हैं। भारतीय मिट्टी के खिलौने में समक्ष मूर्तियों का प्रायः अभाव है। पत्थर की मूर्तियों में भी वे नहीं मिलतीं। केवल कुछ थोड़े से खिलौने कामदेव की मूर्ति के हैं, जिसमें धनुषबाण लिये हुए उस देवता को सपक्ष दिखाया गया है। ज्ञात होता है कि सपक्ष स्त्रीमूर्तियों के खिलौने इसी सपक्ष षष्ठी के हैं। संभवतः यूनानी देवता किउपिड और देवी एफ्रुडाइटी के प्रभाव से इन दोनों प्रकार की मूर्तियों में पक्ष बनाने का अनुकरण किया गया हो। जिसे काश्यपसंहिता में षण्मुखी षष्ठी कहा है, उसका अंकन यौधेयगण के कुछ सिक्कों पर पाया गया है, जो लगभग दूसरी तीसरी शती के हैं। ताँबे की इन मुद्राओं के एक ओर षडानन कार्तिकेय और दूसरी ओर षण्मुखी देवी की मूर्ति है जिसकी पहचान निश्चय रूप से षण्मुखी षष्ठी के साथ की जा सकती है (जर्नल ऑफ दि नुमिस-मैटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, भाग ५, पृ० २६, देखिए मेरा लेख—गॉडेस षष्ठी अन दि यौधेय कइनूस्)। इस प्रकार इन पुरातत्त्वगत प्रमाणों से जो कुषाणकाल के आसपास के हैं—यह प्रमाणित होता है कि चार भाइयों के रूप में चतुर्व्यूह स्कन्द[1], पाँचवे नन्दिकेश्वर और उनकी बहन षष्ठी के पक्षषष्ठी, षण्मुखी षष्ठी,

---

१. अमरकोष में महासेन, स्कन्द, विशाख, कुमार ये चार नाम स्कन्द के पर्यायवाची शब्दों का परिगणन करने वाले श्लोकों में आये हैं। उन दो श्लोकों

सूतिका षष्ठी आदि रूपों की पूजा लोक में व्याप्त थी, और इन देवी-देवताओं के पारस्परिक समन्वय का धार्मिक आन्दोलन गंभीरता से समाज पर अपना प्रभाव डाल रहा था।

स्कन्द के उद्गम, विकास और उसके परिवार की इस छानबीन से ज्ञात होता है कि किस प्रकार सीधे-साधे किसी स्थानीय देवता की मान्यता उत्तरोत्तर जटिल बन जाती थी। इस विकास-क्रम के एक ओर प्राचीन जैन साहित्य में उल्लिखित स्कन्दमह उत्सव के दर्शन होते हैं, दूसरी ओर स्वामी कार्त्तिकेय के उन मन्दिरों का भव्यरूप जिनमें इस देवता की विशाल मूर्तियाँ स्थापित की गईं; जिनमें वे देवसेना के पति अथवा देवों के सेनानी के रूप में शिव और ब्रह्मा से अभिषिक्त होते हुए दिखाए गए हैं। स्कन्दमह का मूल उत्सव निशीथ चूर्णि के अनुसार आश्विन शुक्ल पूर्णिमा को बनाया जाता था। श्रावस्ती नागरी में महावीर के वहाँ पहुँचने के समय यह उत्सव मनाया जा रहा था, और आवश्यक चूर्णि के अनुसार स्कन्द की मूर्ति की रथयात्रा भी निकल रही थी। अवश्य ही मूर्ति की बात चूर्णिकार के ध्यान में कुषाण काल के बाद गुप्त काल में धार्मिक संस्कृति के प्रभाव में आई होगी। अभी तक स्कन्द की कोई मूर्ति प्रथम शती इसवी के पहले नहीं मिली। अभी हाल में मथुरा की कुषाण कला में कार्त्तिकेय की एक प्रतिमा मिली है, जिसमें वे दाहिना हाथ अभय मुद्रा में किए हुए और बांए हाथ में शक्ति लिए हुए खड़े हैं। मूर्ति की चौकी पर कनिष्क के राज्यकाल का संवत्सर ११ का एक लेख है, जिसमें लिखा है कि विश्वल के पुत्र विश्वदेव, विश्वसोम, विश्वभव और विश्ववसु नाम के चार क्षत्रिय भाईयों ने अपने घर में कार्त्तिकेय की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की[1]। अति प्राचीनकाल में जब पत्थर या मिट्टी की मूर्तियों का निर्माण नहीं था, तब भी किसी चौड़े या स्थान विशेष से इन देवों का संबन्ध कल्पित करके उनके उत्सव तो मनाए ही जा सकते थे।

की एक-एक पंक्ति में एक-एक नाम दिया गया। इसी प्रसंग के एक प्रक्षिप्त श्लोक में चर्चिका और चामुण्डा इन दोनों को पर्याय कहा है।

१. सम्० ११ हे ४ दि एतस्य पूर्व्वायां कार्त्तिकेयस्य प्रतिमा प्रतिष्ठापिता। विश्वदेवेन विश्वसोमेन विश्वभवेन विश्ववसुना च भ्रातृभिः विश्वलपुत्रेहि क्षत्रियेहि स्वके आवसथे—उत्तर प्रदेश की इतिहास परिषत् की पत्रिका, जुलाई १९४३ पृ० ६९, मथुरा संग्रहालय मूर्तिसंख्या २९४९।

अध्याय ७

रुद्रमह

नायाधम्मकहा और रायपसेनिय सुत्त की महसूचियों में रुद्रमह और शिव-मह इन दोनों का अलग-अलग उल्लेख हुआ है। नामोल्लेख के अतिरिक्त जैन साहित्य और पालि साहित्य में ऐसी कोई सामग्री नहीं, जिससे इन दोनों उत्सवों के विषय में कुछ अधिक जानकारी प्राप्त हो सके। हाँ, इतना अधिक ज्ञात होता है कि लोक में जैसे और उत्सव थे, वैसे ही रुद्रमह और शिवमह भी प्राचीन काल से चले आते थे, और उनमें भी लोगों की खूब भीड़-भाड़ होती थी। वस्तुतः क्या लोकधर्म और क्या शास्त्रीय धर्म, इन दोनों ही दृष्टियों से देखने पर विदित होता है कि रुद्र-शिव की पूजा जितनी प्राचीन थी उतनी ही अधिक लोकव्यापी थी, और देवताओं के मध्य में रुद्र-शिव का महत्त्व भी बहुत अधिक था। यहाँ तक की केवल विष्णु को छोड़कर किसी अन्य देवता का प्रभाव इतना अधिक लोकोत्तर और व्यापक नहीं हुआ। यह भी विदित होता है कि शिव की मान्यता और पूजा मध्य एशिया तक थी। प्राचीन कापिशी और वर्तमान काफ्रि-स्तान में शिवदेवता का मन्दिर था। वंक्षु नदी के दक्षिण में मूजवन्त प्रदेश में, जिसे इस समय मुंजान कहते हैं, वैदिककाल में रुद्र की मान्यता थी। यजुर्वेद ३।६१ के अनुसार—हे रुद्र यह तेरा भक्ष्य है, इसे लेकर तू मूजवत् से परे चला जा[1]। तू धनुष ताने हुए है, पिनाक पर रहने वाला है। खाल पहनता है। साँपों से तेरा साथ है। हे शिव! तू दूर जा चला जा। अथर्व में मूजवन् के साथ महावृषप्रदेश का भी उल्लेख है (ओकोऽस्य मूजवन्तः ओकोऽस्य महावृषः)। महावृष देश में महान् वृष या नन्दी जिनका लांछन था, ऐसे शिव या महादेव की पूजा प्रचलित रही होगी। इन्द्र को भी वेदों में महादेव वृषभ कहा गया है। इन्द्र और रुद्र शिव-- इन दोनों का समन्वय शिव के विकास की पहली सीढ़ी हुई। इन्द्र का वज्र ही शिव का त्रिशूल कहा गया। दूसरी ओर रुद्र शिव का समन्वय भूत, पिशाच, यक्ष, महोरग, नाग, किन्नर आदि अनेक स्थानीय छुद्र देवताओं के साथ हुआ, और वे सब किसी न किसी रूप में रुद्र के विशाल परिवार के अंग बन गये। इसी प्रकार समन्वय की तीसरी धारा रुद्र और

---

१. एतत् ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहि अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासा अहिं सनः शिवोऽतीहि।

मातृदेवी के पारस्परिक सम्मिलन के रूप में विकसित हुई। अति प्राचीन काल से सर्वभूतधात्री मही माता की पूजा भारतवर्ष और उसके बाहर भी अनेक देशों में प्रचलित थी। अम्बिका का अर्थ ही मातृदेवी है। विद्वानों का विचार है कि यह मातृदेवी वस्तुतः पृथिवी ही थी। सभी संस्कृतियों में पृथिवी को मातृदेवी माना गया है। वह सबसे बड़ी देवी थी। अतएव यह स्वाभाविक था कि देवों में सबसे बड़े देव या महादेव शिव के साथ उस महादेवी अम्बिका का संबन्ध स्थापित किया जाय। शिव-सती और शिव-पार्वती के विवाह के आख्यान द्वारा इसी प्रक्रिया की ओर संकेत पाया जाता है।

वैदिक युग में रुद्र की जैसी मान्यता लोक में फैली हुई थी, उसका कुछ आभास यजुर्वेद के १६ वें अध्याय में प्राप्त होता है। इसमें अनेक रुद्रों की कल्पना की गई है। हरेक दिशा में सहस्रों रुद्र भरे हुए हैं (ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशः वही १६।६)। वह रुद्र वृक्षों में, ओषधियों में, पर्वतों में, जलों में, व्रज में, गोष्ठ में, घर में, गह्वर में, क्षेत्र में, ऊसर में, सर्वत्र अपने असंख्य रूपों से फैला हुआ है (असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम् १६।४)। शर्व, भव, रुद्र, पशुपति, कपर्दी, नीलग्रीव आदि उस रुद्र के अनेक नाम हैं। वह गिरिनिवासी है, पर्वतों में विचरण करता है। उसका एक शरीर घोर और दूसरा शिव है। तस्कर, स्तेन, जंगली, आरण्य लोग, तलवार बाँधनेवाले हिंसक, रात में लूटमार करनेवाले ये सब उस रुद्र को अपना स्वामी मानते हैं वह रुद्र आततायी है। इसी प्रकार सभा, सभापति, अश्व, अश्वपति, गण, गण-पति, व्रात, व्रातपति, सेना, सेनापति, रथी, अरथी, तक्षा, रथकार, क्षत्ता, संग्रहीता कुलाल, कर्मार, बालक, बूढ़े, सब रुद्र की पूजा करते हैं। निषाद, लुब्धक, व्याध श्वगणिक इनका देवता भी रुद्र है। इस प्रकार अनेक रूपों में रुद्र की कल्पना की गयी है। एक ओर वह उग्र और भीम है, जो आगे बढ़कर मारता है और दूरतक मारता है, दूसरी ओर वह शिव और शंकर है, जो शरीर और मन के लिए सब प्रकार का कल्याण करता है। उस रुद्र के सिरपर कपर्द या जटाएँ हैं, हाथ में धनुष और बाण हैं, उसकी ग्रीवा नीलवर्ण है उसके शरीर पर सर्प लिपटे हुए हैं, वह कृत्ति या चर्म धारण करता है। इस प्रकार रुद्र-शिव के जिस रूप का उल्लेख पुराणों में आता है; उसकी मूल कल्पना वैदिक शत-रुद्रियसूक्त में ही प्राप्त हो जाती है। दिशा, विदिशाओं में फैले हुए अनेक रुद्रों के मध्य में एक भगवान् उपाधिधारी शिवतम स्वरूप शिव की कल्पना भी इस सूक्त में पूर्णतः मिलती है।

लोक में अनेक रूपों में रुद्रों की जो मान्यता और विश्वास प्रचलित थे, वे शिव की सर्वोपरि कल्पना के बाद भी अवश्य चालू रहे होंगे। साधारणतः

जनता शीघ्र अपने विश्वास या पूजापद्धति में परिवर्तन नहीं करती। वह समन्वय की प्रवृत्ति पसन्द करती है। जैसा भी जिसका जो देवता है, उसे स्वीकार करते हुए उदात्त और उत्कृष्ट रूप के साथ उसके ऐकात्म्य संबन्ध को लोक की भावना अधिक स्वीकार योग्य समझती है। हिन्दूधर्म का कोई भी देवी देवता ऐसा नहीं है, जिसके साथ किसी न किसी रूप में शिव का संबन्ध न जोड़ा गया हो। स्कन्द और शिव के समन्वय की बात हम ऊपर कह चुके है। इसी प्रकार विष्णु, ब्रह्मा, गणपति आदि समस्त देवताओं के साथ शिव के आख्यान पाए जाते हैं जिनका विश्लेषण यहाँ संभव नहीं।

यह निश्चय है कि रुद्र के अनेक नाम और रूप लोक में रहे होंगे। शतपथ में कहा है—अग्नि ही वह देव है, उसी के ये बहुत से नाम हैं। पूरब के देश में उसे शर्व नाम से पुकारते हैं। वाहीक देश में उसे भव कहते हैं, उसे ही पशुपतिरुद्र कहा जाता है (अग्निर्वै स देवः तस्यैतानि नामानि, शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते, भव इति यथा वाहीकाः, पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति—शत० १।७।३।८)। अन्य स्थान में कहा है रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान ये आठों अग्नि के ही रूप हैं। कुमार उसका नवाँ रूप है (शत० ६।१।३।१८)। हम ऊपर देख चुके है कि महाभारत की साक्षी के अनुसार कुमार मूलतः एक ग्रहविशेष का नाम था, उसके साथ बहुत से कुमारी ग्रह भी थे, उन दोनों का अन्तर्भाव स्कन्द के साथ हो गया। उक्त दो प्रमाणों से ज्ञात होता है कि रुद्र, शिव और अग्नि इनका समन्वय हुआ। यज्ञ से बहिर्भूत शिव देवता और यज्ञीय अग्नि देवता—ये दोनों सर्व प्रथम एक दूसरे के निकट आए अर्थात् लोकधर्म और वेदमार्गीय धर्म—ये दोनों एक दूसरे की ओर खिचे। दक्ष प्रजापति के यज्ञ के महान् आख्यान का तात्पर्य भी यही है। उस यज्ञ में शिव को भाग नहीं दिया गया। किन्तु अर्धांगिनी सती वहाँ संमिलित हुई और उनका निरादर हुआ। फलस्वरूप शिव ने यज्ञ का विध्वंस किया। महाभारत में दक्ष से यह कहलाया गया है कि जटाधारी एकादश रुद्रों को तो मैं जानता हूं, किन्तु यह महेश्वर कौन है। अन्त में दक्ष और शिव इन दोनों का मेल हो जाता है। रुद्र और उमा को अग्नि और स्वाहा का रूप कहा गया है। इस प्रकार रुद्र की अनेकानेक कथाओं के सूत्र दूर दूर तक फैले हुए हैं और लोकधर्म के विकास-क्रम में उनके पारस्परिक संबन्ध इस दृष्टि से विचार-पूर्वक समझे जा सकते हैं।

लोक में रुद्र शिव की पूजा का सबसे प्राचीन प्रमाण सिन्धु उपत्यका में प्राप्त सामग्री से मिलता है। मातृदेवी और शिवपूजा—ये दो ही उस धर्म की बड़ी विशेषताएँ हैं। मोहेन्जोदड़ो की शिवपूजा वस्तुतः लोकधर्म का ही रूप है।

यजुर्वेद में उसका दार्शनिक और धार्मिक संस्कार करने का प्रयत्न किया गया है। एक ओर शास्त्रीय मार्ग से वह परम्परा परवर्ती साहित्य में बराबर आगे बढ़ती गई, दूसरी ओर शिवपूजा का जो लोकग्राह्य रूप था, वह भी चलता रहा। स्थान-स्थान पर सहस्रों की संख्या में जो शिवलिंग हैं, जिनके अपने-अपने नाम और माहात्म्य हैं, वे लोकधर्म की परम्परा में ही हैं। शिव के लिए ईशान और ईश्वर विशेषण यजुर्वेद में ही प्राप्त हो जाते हैं। आगे भी शिवलिंगों के नामकरण में इसी पद्धति को ग्रहण किया गया। शिवलिंगों के अधिकांश नाम ईश्वरान्त ही है। पुरातत्त्व के प्रमाण से ज्ञात होता है कि कुषाणकाल में इस प्रकार के नाम रखने की प्रथा चल चुकी थी। मथुरा के कुषाण काल में जटेश्वर शिव नामधारी एक शिवलिंग का पता चला है। संभव है यह प्रथा उससे भी प्राचीन रही हो। कुषाणकाल के बाद तो इस प्रकार के नामों की संख्या बहुत बढ़ जाती है। स्कन्दपुराण के काशीखण्ड में ईश्वरान्त शिवलिंगों की बहुत लम्बी-चौड़ी सूची है, जो गुप्तकाल के आसपास की जान पड़ती है। राजघाट से प्राप्त कुछ मिट्टी की मुहरों पर गभस्तीश्वर आदि कई नाम ऐसे मिले हैं, जो काशी-खण्ड की सूची में भी हैं। एक प्रथा यह भी थी कि शिवलिंग की स्थापना कराने वाला व्यक्ति अपने नाम से अथवा अपने गुरु या किसी प्रियजन के नाम से शिवलिंग का नाम रख देता था। मथुरा के गुप्तकालीन एक लेख से इसका उदाहरण मिलता है कि आर्य उदिताचार्य ने अपने गुरु और उनके गुरु के नाम से उपमितेश्वर और कपिलेश्वर नाम के दो शिवलिंगों की स्थापना की।

शिव के स्वरूप के विकास-क्रम में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो उनके सौम्य रूप का पर्यवसान योगसाधना में हो गया और शिव सबसे बड़े योगी प्रसिद्ध हुए। लोक में इस सम्प्रदाय की परम्परा नाथ गुरुओं के द्वारा सबसे अधिक फैली, जिनमें गुरु गोरखनाथ का नाम सबसे पहले लेने योग्य है। नाथपन्थ के अनुसार शिव सबसे बड़े और पहले नाथ हुए हैं, जिन्हें वे आदिनाथ भी कहते हैं। नाथधर्म के उदय से पहले भी बौद्धधर्म के अन्तर्गत शिव का समन्वय बौद्धों के अवलोकितेश्वर के साथ भी हुआ। इस प्रकार का समन्वित रूप लोकेश्वर कहा जाता था। लोकेश्वरों की संख्या १०८ या उससे भी अधिक कही जाती है। जटाजूट, त्रिशूल, रुद्राक्ष, बाघम्बर, तृतीय नेत्र आदि बाह्य चिह्न शिव और लोकेश्वर दोनों में एक से मिलते हैं।

दूसरी बात यह है कि शिव का जो घोर या भयंकर रूप था, निषाद जातियों से जिसका सम्बन्ध था, उसका भी नितान्त अभाव नहीं हो गया, किन्तु भैरव रूप में उसकी भी मान्यता बनी रही। प्रायः प्रत्येक शिवक्षेत्र में भैरवों की पूजा भी

लोक में पाई जाती है। अधिकांशतः भैरवपूजा लोकधर्म का ही अंग है। उसके साथ मधुमांस या मांसशोणित भोजन की वह पख अभी तक लगी है जो रुद्र शिव के घोर रूप के साथ किसी समय स्वाभाविक थी।

इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि यक्षपूजा का भी शिवपूजा के साथ निश्चित समन्वय किया गया। यक्षों के अधिपति वैश्रवण कुबेर शिव के अन्तरंग मित्र हो गए। अनुमान तो यह होता है कि रुद्रशिवपूजा से भी प्राचीन स्तर यक्ष-पूजा का था। यक्षों की मान्यता और पूजा को हटाकर या उसके प्रभाव को कम करके उसका स्थान शिवपूजा ने ले लिया। उदाहरण के लिये कथा है कि काशीक्षेत्र में पहले यक्षों की पूजा और मान्यता थी। पीछे यक्षों के राजा का पुत्र शिव का भक्त बन गया। यक्षों के भक्त और शिव भक्तों में झगड़ा हुआ। दोनों ने शिव को पंच माना। तब शिव ने निर्णय दिया कि हमारे भक्त काशी में रहेंगे और यक्षों के भक्त काशी से बाहर चले जायेंगे। यक्ष और शिव की पूजा के आपस में वैरभाव छोड़कर आपस में मिल जाने का संकेत इस छोटी-कथा में है, किन्तु इसके तो और बहुत से प्रमाण पुराणों से प्राप्त किए जा सकते हैं। लोक में जो बहुत से पन्थ या मत हैं, जिनके साधु प्रायः जनता के इस स्तर पर लोगों से मिलते हुए बिचार करते हैं, जैसे नाथ, अवधूत, योगी, जंगम, लिंगायत, माहेश्वर, कापालिक आदि। उन सब में रुद्र-शिवपूजा की परम्पराएँ मिली हैं, जिनका विवेचन यहाँ नहीं किया जा सकता। लोकधर्म की दृष्टि से यह तथ्य आज भी सर्वोपरि है कि शिवपूजा का प्रचार और अनेक रूपों में उसकी मान्यता जनता का अब भी सबसे व्यापक धर्म है। रुद्रमह या शिवमह के अवसर पर जो मेले लगते थे, उनमें कुछ घोर साधनाओं का प्रदर्शन भी किया जाता होगा। इस समय शिव चतुर्दशी शिव का सबसे बड़ा पर्व है। सम्भव है रुद्र-शिवमह का भी यही समय हो।

अध्याय ८

नागमह

नागपूजा भारतीय लोकधर्म का पुराना रूप है। नागदेवता के उत्सव को नागमह कहते थे। उनके मेले या यात्राएँ नागयात्रा या नागजत्ता कही जाती थीं। उनके लिये दी जाने वाली पूजा-सामग्री और बलि नागवलि कहलाती थी। भारतवर्ष के हरेक कोने में नागपूजा की परम्परा अभी तक प्रचलित है। वैदिक, बौद्ध, जैन प्रत्येक धर्म के साथ नागपूजा का समन्वय हुआ। नाग-पूजा की परम्परा यक्ष-पूजा से भी अधिक प्राचीन ज्ञात होती है। नागों की माता सुरसा पृथ्वी की ही संज्ञा है। नागमाता कद्रू पृथ्वी का रूप है, ऐसा ब्राह्मण-साहित्य में भी आया है (इयं पृथिवी कद्रूः—शत० ३।६।२।२; इयं वै पृथिवी सर्पराज्ञी—शत० २।१।४।३०)। विष्णु अनन्त नामक शेषनाग की शय्या पर सोते हैं—इस प्रकार के उपाख्यानों में विष्णु और नागपूजा की धाराओं का सम्मिलन हुआ। पंचरात्र भागवतों ने इसे और भी खुलकर स्वीकार किया। उनके अनुसार चतुर्व्यूह के अन्तर्गत बलदेव, संकर्षण वासुदेव कृष्ण के भाई हैं, और वे भी शेष के अवतार हैं। भागवत धर्म के आरम्भ में संकर्षण और वासुदेव इन दोनों का नित्य जोड़ा माना जाता था[1]। कृष्ण को बलदेवसहायवान् (आरण्यक पर्व १३।३६, या संकर्षण द्वितीय—महाभाष्य; उद्योगपर्व ४७।७२, बलदेवद्वितीय) कहा गया है। कृष्ण और बलराम इन्हें वायुपुराण में पुरुषप्रकृतिक देव कहा गया है। मूलतः ये दोनों वृष्णिगण में अभिषिक्तवंश्य क्षत्रिय थे (काशिका, ५।२।३४ सूत्र पर—राजन्यबहुवचनद्वन्द्वेऽन्धकवृष्णिषु)। पीछे से क्रमशः ये देवत्व को प्राप्त हुए और इनकी भक्तिपूजा की जाने लगी।

विष्णु के सदृश शिव के साथ भी नागपरम्परा का समन्वय प्राप्त होता है। यजुर्वेद में रुद्र को 'अहि सन्नः', अर्थात् सर्प के सानिध्यवाला कहा गया है। लोकधर्म की दृष्टि से नाग और सर्प इनकी धाराएँ यदि कभी पृथक् रही हों, तो उनका भेद अब स्पष्ट नहीं है। नागों के सम्बन्ध में दो कथाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। एक नाग और गरुड़ का संघर्ष और दूसरे जनमेजय का नागयज्ञ। पहली कथा के मूल में धार्मिक गाथा का अंश विशेष है, और दूसरी के मूल में ऐतिहासिक अंश। गरुड़

---

१. द्वन्द्वं संकर्षणवासुदेवौ, द्वावप्यभिव्यक्तौ साहचर्येणेत्यर्थः—
काशिका ८।१।१९

सूर्य के प्रतिनिधि हैं, और नाग अन्धकार से भरे हुए पाताल या पार्थिव लोकों के। गरुड़ और नागों के संघर्ष में गरुड़ की सबसे बड़ी विजय उनके द्वारा स्वर्ग से अमृत घट ले आना है। अमृतघट की खोज और प्राप्ति का आख्यान उस अन्तर्राष्ट्रीय कथानक का स्मरण दिलाता है जिसे Quest of the Holy Grail कहते हैं। Grail कोई विशेष पात्र था, जिसमें जीवन या प्राणदायक रस भरा हुआ था। उसे मणि विशेष भी कहा जाता है। अमृतघट और Holy Grail दोनों में बहुत अधिक साम्य है। इस प्रकार का जीवनदायी अमृत पदार्थ सूर्योपासक आर्य जाति को प्राप्त हुआ, नागजाति को नहीं—यह उस कथा का अभिप्रेतार्थ जान पड़ता है। समुद्रमन्थन से उत्पन्न अमृतघट देवों को मिला, असुरों को नहीं, इस पौराणिक आख्यान में भी वही बात दूसरी परिभाषा से कही गई है।

जन्मेजय के नागयज्ञ की कथा के पीछे कुछ ऐतिहासिक तथ्य छिपा हुआ जान पड़ता है। कुरु-पाण्डव वंश के साथ तक्षक के वंश का झगड़ा चला आता था। उसी द्वन्द्व में परीक्षित का अन्त हुआ, जिसका बदला जनमेजय ने नागयज्ञ के रूप में लिया। जरत्कारु के पुत्र आस्तिक वासुकिनाग की बहिन के पुत्र कहे गये हैं। जन्म के बाद वासुकि ने ही आस्तिक का लालन-पालन किया। नागों के साथ अपने इस सम्बन्ध के कारण ही आस्तिक ने नागयज्ञ से नागों की रक्षा की।

कृष्ण के जीवन में भी कालिय नाग को वश में करने की महत्त्वपूर्ण घटना आती है। बुद्ध का भी कई नागों से सम्बन्ध बताया जाता है। जैसे ही बुद्ध का जन्म हुआ, नन्द और उपनन्द नाम के नागों ने प्रकट होकर उनकी स्तुति की। नैरंजना नदी में नाग देवता का निवास था। जब बुद्ध उसमें स्नान कर चुके, तो वहाँ के सागर नागराज की दुहिता ने बोधिसत्त्व के बैठने के लिए रत्नजटित आसन दिया। कहा जाता है कि सुजाता की दी हुई खीर खाकर उसका सोने का कटोरा नदी में फेंक दिया, जिसे वहाँ के नाग ने उठा लिया, किन्तु इन्द्र ने गरुड़ का रूप बनाकर उसे छीन लिया और त्रयस्त्रिंश स्वर्ग में उसे ले जाकर पूजा की। नैरंजना में स्नान करके जब बुद्ध बोधिवृक्ष की ओर चले, तो नागराज कालिक ने उनकी स्तुति की, और उनके बुद्धत्व के विषय में भविष्यवाणी की। संबोधिप्राप्त करने के अनन्तर बुद्ध कुछ दिन तक बोधिवृक्ष के नीचे ही रहे। दूसरे सप्ताह उसके पास में ही मुचुलिन्द वृक्ष के नीचे जा बैठे। वहाँ नागराज मुचुलिन्द ने अपने बिल से निकल कर बुद्ध के ऊपर छाया की। बुद्ध सारनाथ में अपना प्रथम उपदेश दे चुके, तब वे उरुबिल्व नामक स्थान में गये। वहाँ काश्यप ऋषि का आश्रम था। वहाँ बुद्ध ने एक भयंकर नाग को, जो आश्रम के एक भाग में रहता था—अपने वश में किया। नागों की और भी कितनी कथाएँ बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित

हैं। यह स्वाभाविक है कि स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न नागों के छोटे बड़े मन्दिर या पवित्र स्थान थे, उनमें से बहुतों का सूत्र बुद्ध की कथा के साथ जुड़ गया। इसी तरह के दो नाग उत्तर-पश्चिम में थे। बुद्ध तो गन्धार में कभी नहीं गये, लेकिन कहानियों में ऐसा मान लिया गया कि काबुल नदी के पास नगरहार नामक स्थान में एक गोपाल नाग था, जो वहाँ के लोगों के लिए बहुत भयंकर हो गया था। बुद्ध ने अपने उपदेश से उसे वश में किया। इसी प्रकार सुवास्तु नदी के समीप मंगलपुर नगर के निकट रहनेवाले अपलाल नाग को जो नदी में बहिया लाकर उस प्रदेश को हानि पहुँचाता था, बुद्ध ने शान्त किया। बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद जब उनके शरीर की धातुओं का बँटवारा हुआ, तो रामग्राम के कोलिय क्षत्रियों को भी उसका एक भाग मिला। कहा जाता है कि रामग्राम में जो स्तूप बना, उसकी रक्षा का दायित्व नागदेवताओं ने अपने ऊपर ले लिया।

जातकों की लोक-कथाओं में तो नागों के आख्यान भरे हुए हैं, जिनसे नाग-सम्बन्धी लोकवार्ता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। एक ओर नागराज चंपक, शंखपाल, भूरिदत्त जैसे कथानक हैं, जिनमें नाग बौद्धधर्म के नैतिक प्रभाव के अन्तर्गत आकर उसी के अनुसार आचरण करते हैं, किन्तु जो साधारण कहानियाँ हैं, उनसे ज्ञात होता है कि नाग साधारण देवता थे। लोकधर्म में जिनकी मान्यता प्रचलित थी। भारतीय कथा-साहित्य के अनुसार नाग क्षेत्र देवता कहे गये हैं, अर्थात् वे भूमि के विशेष भाग की रक्षा करते हैं। वहीं वे बाँबी बनाकर रहते हैं। उनके सम्बन्ध में दूसरा विश्वास यह है कि वे भूमि में गड़े हुए धन पर बैठकर उसकी रक्षा करते हैं, और उसे किसी को लेने नहीं देते। जो व्यक्ति नाग की पूजा करके उसे प्रसन्न कर लेता है, वही उस निधि को पाता है। नागों के सम्बन्ध में ऐसा विश्वास विश्व के और भी बहुत से देशों में पाया जाता है। पंचतन्त्र की एक कहानी के अनुसार क्षेत्रपाल नागदेवता क्षेत्र के स्वामी एक ब्राह्मण को, उसके दूध पिलाने से प्रसन्न होकर एक स्वर्ण-दीनार नित्य दिया करता था। एक दिन ब्राह्मण दूसरे गाँव गया और अपने पुत्र को वह काम सौंप गया। नाग ने पुत्र को भी उसी प्रकार दीनार दी पुत्र ने समझा इसकी बांबी में दीनार भरे हैं, क्यों न मैं उन्हें ले लूँ। यह सोचकर उसने अगले दिन जब नाग दूध पीने निकला, तो उसके शिर पर डंडा मारा। नाग ने कुपित होकर उसे डँस लिया। जब ब्राह्मण लौटा, तो वह फिर दूध लेकर पहुँचा। तब नाग ने कहा—रे मूर्ख तू, धन के लोभ से आया है। मैं उस डण्डे की वह चोट नहीं भूल सकता, और तू अपने पुत्र का शोक नहीं भूल सकता, इसलिए मेरी-तेरी मित्रता नहीं हो सकती। यह कहकर उसने ब्राह्मण को एक बहुमूल्य मणि दी, और फिर न आने के लिए कहा। इस

कहानी में नाग को क्षेत्र देवता माना गया है। वह भूमि के नीचे गड़े हुए धन का रक्षक है, और तीसरी विशेषता यह है कि उसके पास बहुमूल्य मणि है, जिसे वह प्रसन्न होकर मनुष्य को दे सकता है। ये तीनों बातें नाग-सम्बन्धी जन-विश्वास का अंग हैं। पंचतन्त्र में ही एक दूसरी कहानी है, जिसमें एक ब्राह्मण की पत्नी नागरूपी पुत्र को जन्म देती है। ब्राह्मण उसका विवाह एक सुन्दरी कन्या से कर देता है। एक दिन रात को जब पति-पत्नी एकान्त में मिलते हैं, तो नाग अपनी केंचुली छोड़कर मनुष्य रूप में स्त्री से मिलता है। दोनों सुखशयन करते हैं। इसी बीच में उसका पिता वहाँ आकर केंचुली को अलग पड़े हुए देखता है, और उसे जला डालता है। जिसके फलस्वरूप नागकुमार पुरुष विग्रह में ही बना रहता है। यह कहानी भी लोकसाहित्य में पाई जाती है। कुमाऊँ के लोक-वार्तासाहित्य में उसका रूप इस प्रकार है। एक धनी मनुष्य और स्त्री के सन्तान न थी। पति ने अप्रसन्न होकर पत्नी को घर से निकाल दिया। वह भीख माँगने लगी। एकदिन उसने नाग जैसा कोई छोटा डण्डा पड़ा देखा और उसे उठाकर डलिया में रख लिया। अगले दिन उसके बढ़ने से डलिया भर गई। फिर से उसे बड़ी डलिया में रख दिया। वह भी भर गई। इस तरह कई बार करने के बाद वह अपने पति के खेत पर लौट आई, और उस नाग को कोठार में रख दिया। कोठार भी उससे भर गया। तब पत्नी ने पति से जाकर कहा—अब मेरे पुत्र हो गया है। उसके रहने के लिए घर चाहिए। पति ने एक बड़ा-सा घर बना दिया। स्त्री ने नाग को उसमें रख दिया। वह घर भी उससे भर गया। पत्नी ने कहा कि मेरा पुत्र बड़ा हो गया है, उसके लिए स्त्री चाहिए। पति कहीं से एक अनाथ लड़की ले आया और नाग के साथ उसका ब्याह कर दिया। वह बेचारी उस नाग की सेवा करती और अपनी सास का दिया हुआ जादू का तेल उसके शरीर में मलती। वह अपने भाग्य पर रोने लगी, पर सास ने धीरज बँधाया। तीसरे दिन नाग ने अपनी केंचुल छोड़कर सुन्दर मनुष्य का रूप रख लिया। बहू ने अपनी सास से कहा। सास ने कहा आज रात को जब वह सो जाय, तब नाग की छोड़ी हुई केंचुली लेकर उसे अपनी चोली के साथ लेकर जला डालना। उसने ऐसा ही किया। उसकी भूल से केंचुली या नाग की खोल का कुछ हिस्सा बिना जला रह गया। नाग ने उसी में प्रवेश करके अपना पहला रूप रख लिया। सास ने बहू से कहा—अच्छा अबकी सावधान रहना और नाग की पूरी खोल जला डालना। बहू ने वैसा ही किया। तबसे उसका पति मनुष्य रूप में ही उसके साथ रहने लगा। (उत्तरप्रदेश इतिहास परिषद् का मुख पत्र, भाग १, पृष्ठ ३७–३८)

डॉ० फोगेल ने इस कहानी का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए बताया है कि इस प्रकार का लोकविश्वास और भी बहुत से देशों में पाया जाता है, जिसमें

पशुपक्षी की खोल जला डालने से उनके अल्पकालिक पुरुष विग्रह की रक्षा की जाती है। उत्तराखण्ड के वोलसुंग सागा में ऐसी ही एक कहानी है, जिसमें भेड़िये के रूप में पड़े हुए स्त्री पुरुष की रक्षा उनकी छोड़ी हुई खोल जलाने से होती है (इण्डियन सर्पेण्टलोर पृ० १०६, १७४)। सम्भवत: कुमायूँ के अतिरिक्त अन्य जनपदों में भी इस कहानी के मिलते-जुलते रूप लोककथाओं में मिलें। लोक में नागों की पूजा के बहुत से प्रमाण भारतीय कला में मिलते हैं। मथुरा के आस-पास शुंगकाल से गुप्तकाल तक नाग पूजा का बहुत प्रचार था। वहाँ से सैकड़ों नागमूर्तियाँ मिली हैं। उनमें एक दधिकर्ण नाग की मूर्ति है। छड़गाँव नामक गाँव से एक विशाल नाग मूर्ति मिली थी, जो कुषाणकालीन नागमूर्तियों का सबसे बड़ा और अच्छा उदाहरण है। दाऊजी में नागपूजा का बहुत प्राचीन केन्द्र जान पड़ता है, जिसका सम्बन्ध बलदेव जी की मान्यता के साथ हो गया। वहाँ जिस मूर्ति की पूजा की जाती है, वह नाग मूर्ति ही है। छड़गाँव नाग मूर्तियों के लेखों में 'भगवान् नाग:' ऐसा विशेषण मिलता है। भगवान् विशेषण देवता का सूचक था जो भगवान् यक्ष, भगवान् वैश्रवण, भगवान् मणिभद्र, भगवान् वासुदेव इत्यादि में पाया जाता है।

लोकधर्म, साहित्य और कला में नागपूजा का सबसे प्रभावशाली उदाहरण राजगृह के मणिनाग देवता की पूजा का स्थान मणियारमठ है। महाभारतीय तीर्थ यात्रा पर्व में राजगृह के गरम जल के स्रोतों का वर्णन करने के बाद लिखा है कि उनमें स्नान करके यात्री को उचित है कि वहाँ बँटनेवाले यक्षिणी के प्रसाद को चखे (यक्षिण्या नैत्यकं तत्र प्राश्नीत पुरुष: शुचि:। यक्षिण्यास्तु प्रसीदेन मुच्यते भ्रूणहत्यया॥ आरण्यक ८२।९०)। यह भ्रूण से संबन्ध रखने वाली राक्षसी वही जरा नाम की देवी या हारीति होनी चाहिए जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। उसके बाद यात्री मणिनाग के स्थान का दर्शन करें। जो मानव मणिनाग का प्रसाद चखता है उसे साँप का विष नहीं चढ़ता। एक रात मणिनाग के स्थान पर निवास करना चाहिए[1]। भीम-अर्जुन के साथ जब कृष्ण राजगृह पहुँचे तब उन्होंने राजगृह में अर्बुद, शक्रवापी, स्वास्तिक और मणिनाग इन चार नागदेवताओं के होने का उल्लेख किया है।

---

१. मणिनागं ततो गत्वा गो-सहस्र फलं लभेत्
नैत्यकं भुञ्जते यस्तु मणिनागस्य मानव:
दष्टस्याशीविषेणापि न तस्य क्रमते विषम्
तत्रोष्य रजनीमेकां सर्वपापै: प्रमुच्यते॥
(वही ८२।९१-९२)

राजगृह में जरादेवी के साथ-साथ मणिनाग की परम्परा भी आर्येतर जातियों से चली आती होगी। पीछे इन दोनों को देवता मानकर आर्यों के लिए विहित तीर्थयात्रा में स्थान दिया गया। इस दृष्टि से तीर्थयात्राओं का भी महत्त्व कम नहीं है, क्योंकि उनमें जिन देवताओं के पवित्र स्थानों का परिगणन रहता है, उनमें से अधिकांश वृक्षपूजा, जलाशयपूजा, नागपूजा, यक्षपूजा, भूतपूजा आदि आर्येतर धर्मविधि से ही संबन्धित होते हैं। मणियार मठ के स्थान में गुप्तयुग में एक मन्दिर बनाया गया था, जो अभी तक विद्यमान है। प्राचीनकाल में इस तरह के मन्दिर नागघर कहलाते थे। ऐसा एक नागघर साकेत के बाहर भी था। उससे पहले संभवतः यहाँ पर मणिनाग का चत्वर मात्र था, जिसे घेर कर ईंटों के गोलमन्दिर का निर्माण किया गया। मणियार मठ की खुदाई में बहुत से मिट्टी के ऐसे करवे या घर मिले हैं जिनमें एक से अधिक टोटियाँ होती हैं, किसी-किसी में तो दस से पन्द्रह टोटियाँ हैं। इस तरह के टोटीदार करवों का नागपूजा में उपयोग होता था और आज भी होता है। मूल नक्षत्र में जन्म लेने वाले बच्चों की ग्रहशान्ति के लिए एक विशेष विधि की जाती है, उनका नामकरण संस्कार २७ वें दिन किया जाता है, तबतक माता के अतिरिक्त पिता उस बच्चे को नहीं देखता। २७ वें दिन ७ टोटियों के करवे से जल की धाराएँ छोड़ते हुए मूलिया बच्चे को स्नान कराया जाता है। मूल नक्षत्र का अधिष्ठातृदेवता सर्प है। इसलिए यह शान्ति-विधि मणिनाग के स्थान में की जाती थी। ज्ञात होता है कि दूर-दूर से मूलिया बच्चे मणिनाग की जात देने के लिए वहाँ लाए जाते थे।

लोक में नागों का सम्बन्ध नागपंचमी के उत्सव के रूप में अभी तक मनाया जाता है। श्रावण शुक्ल पंचमी को नागपंचमी का त्योहार होता है। उस दिन घर की दीवाल पोतकर उनपर 'संअन' रखते हैं। किसी एक जगह बड़े रूप में 'संअन' रखकर द्वार के दोनों ओर एवं कोठे-कमरे की अन्य भीतों पर भी उनकी आकृति लिखते हैं। इन 'संअनों' की आकृति जो पश्चिमोत्तर प्रदेश में लिखी जाती है, इनके मूल अभिप्राय पर प्रकाश डालती है। उनमें कुछ तो पक्षी की रेखाकृतियों से मिलते हैं और कुछ की आकृति सर्प जैसी होती है। हमारी दृष्टि में 'संअन' शब्द संस्कृत शकुनि से निकला है, जिससे प्राकृत में 'शअनि' और हिन्दी में 'संउन' बनता है। संउन के रूप में पंख फैले हुए गरुड़ की आकृति लिखी जाती है। इन आकृतियों के पीछे प्राचीन गरुड़ और नाग संग्राम की परम्परा विदित होती है। महाभारत के इस आख्यान का उल्लेख ऊपर हो चुका है, किन्तु यह सुपर्ण आख्यान उससे कहीं अधिक प्राचीन था। सामवेद में सौपर्ण साम का उल्लेख है। ताण्ड्य ब्राह्मण (१४।३।१०) में कहा गया है कि देवों का यज्ञ एक

बार उनसे रूठकर बाहर चला गया। वह सुपर्ण के रूप में इधर-उधर घूमने लगा। देवता उसे सौपर्णसाम के गीत गाकर वापस लाए। तब यज्ञ का आरम्भ हुआ। यहाँ स्पष्ट ही वैदिक यज्ञ और लोक की सुपर्णपूजा का समन्वय किया हुआ ज्ञात होता है। गरुड़ को गरुत्मा सुपर्ण कहा गया है। गरुत् रूपी महासुपर्णों के साथ नागों के संग्राम की कथा वैदिक देवासुर-संग्राम की ही रूढ़ि पर ढल गई, जिसमें सुपर्ण देवों के और नाग आसुरी या अन्धकार की शक्तियों के प्रतीक हैं। अस्यवामीय सूक्त के एक मन्त्र में इन्द्र, मित्र, वरुण, अर्यमा आदि वैदिक देवों के साथ गरुत्मा सुपर्ण को भी एक ही तत्त्व के बहुधा रूपों में गिनाया गया है[1]। सुपर्ण और गरुड़ दोनों सूर्य की संज्ञाएँ थीं। गरुड़ और नाग प्रकाश और अन्धकार के प्रतीक थे। यही इनका शाश्वत द्वन्द्व है। मथुरा और गन्धार की कला में नाग और गरुड़ का संग्राम का अंकन करनेवाले कई शिलापट मिले हैं। नागपंचमी को रखे जानेवाले 'संउन' उसी गरुड़-नाग संग्राम की लोकपरम्परा का स्मरण दिलाते हैं।

लोक की मान्यता के अनुसार नागों का सम्बन्ध प्रायः जलाशयों से माना जाता है। मथुरा की नागमूर्तियाँ प्रायः पुष्करिणी के किनारे पर प्रतिष्ठित मिली हैं। नागदेवता से रक्षित पुष्करिणी नाग-ह्रद कही जाती थी। बाण ने लिखा है कि तारापीड़ की रानी विलासवती पुत्रजन्म के लिये ऐसे मातृभवनों का दर्शन करती थी, जिनके चमत्कार का लोगों को प्रत्यक्ष दर्शन हुआ था एवं प्रसिद्ध नागकुल के जलाशयों में जाकर स्नान करती थी (दर्शितप्रत्ययानि संनिधानमातृभवनानि जगाम, प्रसिद्धेषु नागकुलह्रदेषु ममज्ज—कादम्बरी वैद्यसंस्क० पृ० ९६४)। हिन्दी साहित्य के लोकपक्ष में प्रायः नागों की अष्टकुली का उल्लेख आता है। ये नाग शेष, वासुकि, कंबल, करकोटक, पद्म, महापद्म, शंख और कुलिक हैं। एक दूसरे मत से इस सूची में तक्षक, महापद्म, शंख, कुलिक, कंबल, अश्वतर, धृतराष्ट्र और बलाहक—ये नाम हैं। इनमें से बासक नाग का नाम प्रायः लोककथाओं में आता है। शेषसंज्ञक नाग के सम्बन्ध में इतना विशेष ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार भारतवर्ष के गाथाशास्त्र में पृथिवी को धारण करनेवाला माना गया है, उसी प्रकार टिउटन जाति की उत्तराखण्डवर्त्ती गाथाओं में एक ऐसे सर्प की कल्पना की गई है, जो पृथिवी को चारों ओर से घेरे हुए है।

---

१. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथोदिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋग्वेद, अस्यवामीयसूक्त)

यक्षबलि, भूतबलि की भाँति नागबलि का भी विधान है। इसके अनुसार धूप, दीप, फूल, पुष्प, प्रसाद आदि से नागों की पूजा की जाती है। नागपरम्परा का जैसा प्रचार कश्मीर में था वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। वहाँ के नीलमतपुराण ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न स्थानों के ५०० नागदेवताओं की सूची मिलती है। हरेक सोते, चश्मे या झरने का अपना-अपना नागदेवता था।

अध्याय ९

वृक्षमह

वृक्षों की पूजा को प्राकृतसाहित्य में 'रुक्ख मह' कहा गया है। यह पूजा भी 'गिरिमह' 'नदीमह' के सांस्कृतिक स्तर की है। भारतीय साहित्य और कला दोनों में ही देवताओं के रूप में वृक्षों की मान्यता और पूजा की सामग्री भरी पड़ी है। पीपल, वट, तुलसी, आमलकी आदि की पूजा अभीतक लोक में इतनी अधिक व्याप्त है कि वह उच्च-नीच सभी प्रकार के सामाजिक स्तरों पर धर्म का जीवित अंग बनी हुई है। वृक्ष पूजा के पीछे आदिम मानव के मन की जो सहज प्रवृत्ति रही होगी, जिसके कारण उसका वृक्षों की ओर खिंचाव हुआ, और उसने उन्हें देवभाव से मान्य किया—इसकी कुछ कल्पना या चित्र महाभारत के निम्न श्लोक में प्राप्त होता है—

एको वृक्षो हि यो ग्रामे भवेत् पर्णफलान्वित:।
चैत्यो भवति निर्ज्ञातिरर्चनीय: सुपूजित:।

(आदिपर्व १३८।२५)।

अर्थात् किसी गाँव में जब एक वृक्ष ऐसा दिखाई पड़ता है, जो पत्तों से खूब छतनार हो और फलों से लदा हुआ हो तो वह अपने विशिष्ट लक्षणों के कारण प्रसिद्ध प्रतीत होता है और वह पूजने योग्य जान पड़ता है। एवं लोग उसे भली प्रकार पूजते भी हैं। वह उस क्षेत्र के लिए चैत्य समझा जाता है। इस श्लोक में चैत्य वृक्ष का जैसा चित्र खींच दिया गया है इससे यह सूचित होता है कि प्राय: हरेक गाँव अपने लिए इस तरह का चैत्य वृक्ष चुन लेता था, जैसे हरेक गाँव में यक्ष का स्थान या चैत्य होता था, वैसे ही अर्चा के योग्य वृक्ष का भी स्थान बना लिया जाता था। मूल में वह केवल एक वृक्ष होता था, जो अपनी-अपनी शाखा प्रशाखाओं के वितान से दिशाओं को घेरे हुए हो, और जिसका स्कन्ध या तना आकाश में खूब ऊँचा उठा हुआ हो। ऐसे ही विशिष्ट वृक्ष को विश्व पुरुष का उपमान लेते हुए वैदिक साहित्य में कहा है—वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक: (श्वेताश्वतर उप० ३।९)। ऐसे वृक्ष की पूजामान्यता बढ़ने से उसे किसी वेदिका या छोटे कटहरे से घेर दिया जाता था। वेदिका, भित्ति, चारदिवारी या कटहरे से पूजा के स्थान को शेषस्थान से पृथक् सीमाबद्ध करना यह धार्मिक प्रक्रिया का आवश्यक अंग है। प्राचीन समय में जब देवता के स्थान पर किसी मन्दिर आदि का अभाव था, तब उस स्थान की पहचान इसी वेदिका या भित्ति से की जाती थी। वृक्ष, स्तूप

अथवा स्थण्डिल के चारों ओर खींचे हुए कटहरे या वेदिका का चित्रण प्राचीन भारतीय कला में बहुधा पाया जाता है। रामायण और महाभारत दोनों में पवित्र वृक्षों के चारों ओर बनी हुई वेदिकाओं का उल्लेख है। यह वेदिका मूल में बाँस या लकड़ी की बनाई जाती थी, पीछे वह पत्थर की बनाई जाने लगी। क्रमशः इन वेदिकाओं का स्वरूप और भी भव्य हो गया। उनके बीच में चार बड़े प्रवेश-द्वार या फाटक बनाये जाने लगे, जिन्हें तोरण कहा गया है। साँची की वेदिका में इस प्रकार के तोरण अभीतक सुरक्षित हैं। पहले यह वेदिका स्तम्भ सादे पत्थरों के होते थे, पीछे से उनपर विशेष प्रकार की सजावट या उकेरी बनाई जाने लगी। साँची की वेदिका सादी और भरहुत स्तूप की विशिष्टरूप से अलंकृत है। इस प्रकार के वृक्ष चैत्यवृक्ष कहलाते थे। उनके स्थान में मन्दिर भी बनाये जाने लगे, जिन्हें, नागघर के समान रुक्खघर कहते थे। बोधिवृक्ष या पीपल के लिए बने हुए ऐसे मन्दिरों को बोधिघर कहा गया है। साँची, भरहुत मथुरा कला में बोधिघरों का अंकन प्रायः मिलता है। इन मन्दिरों में छत नहीं होती थी। बल्कि बीच का हिस्सा आकाश की ओर खुला रहता था, केवल चारों ओर की दीवार बनाई जाती थी।

प्रायः रुक्ख देवता के लिए बलि भी दी जाती थी। रुक्ख देवता की पूजा और मान्यता से उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न किया जाता था। भक्त लोग ऐसा भी समझते थे कि वृक्ष का देवता प्रसन्न होकर साक्षात् दर्शन भी दे सकता हैं। बुद्ध को वटवृक्ष के नीचे बैठे हुए देखकर सुजाता की दासी पूर्णा ने पहले यही समझा कि रुक्ख देवता ही प्रत्यक्ष दर्शन दे रहा है। उसने यह बात सुजाता से कही, और तब वह सोने के पात्र में क्षीर लेकर रुक्ख देवता की पूजा के लिए गई। बुद्ध ने उसे ग्रहण किया। रुक्खधम्मजातक (जातक संख्या ७४) में रुक्ख देवताओं का बहुत ही स्पष्ट उल्लेख किया गया है। शाल के वन में बोधिसत्त्व रुक्ख देवता के रूप में उत्पन्न हुए। शक्र ने वैश्रवण को उनका राजा बनाया। राजा ने रुक्ख देवताओं को आज्ञा दी कि किसी भी इष्ट वृक्ष पर अपने-अपने लिए स्थान चुन लें। बोधिसत्त्व ने अपने सगे-सम्बन्धियों को सलाह दी कि मिलकर रहो और आस-पास के वृक्षों पर अपने लिए निवासस्थान चुन लो। कुछ ने उनकी बात न मानी और जंगल में अकेले खड़े हुए पेड़ों पर जाकर रहने लगे। उसी समय आँधी आई, और जो अकेले पेड़ थे, वे उखड़कर जा गिरे। पर जो वनखण्डी के वृक्ष थे वे आपस में मिले होने के कारण बच गये। इस प्रकार बुद्ध ने मिलकर रहने का फल उन्हें समझाया। इस कहानी में बौद्धधर्म का झीना चोला नाम मात्र का है वस्तुतः यह रुक्खदेवताओं के विषय में लोकविश्वास का सूचक प्रतीक मात्र है।

बौद्ध, जैन और हिन्दू इन सब धर्मों ने वृक्षपूजा की परम्परा को उन्मुक्त भाव से स्वीकार किया। प्रत्येक बुद्ध और प्रत्येक तीर्थंकर के लिए एक-एक पवित्र वृक्ष की कल्पना की गई, जिसे उसका बोधिवृक्ष माना जाता है। इस प्रकार बड़े सहजभाव से वृक्षों की पूजा बौद्धधर्म और जैनधर्म में प्रविष्ट हो गई और उसी प्रकार जनता से प्रीति और विश्वास प्राप्त करती रही, जिस प्रकार वह पहले प्राप्त करती थी। ब्राह्मण धर्म में वृक्षों को पवित्रता प्रदान करने की प्रक्रिया कई रूपों में मिलती है। इस विश्व को ही अश्वत्थ कहा गया है। किन्तु इस वृक्ष की ज़ड़ ऊपर और शाखाएँ नीचे की ओर हैं—

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।

अव्यय अश्वत्थ का ही दूसरा नाम अक्षय वट है जो कभी क्षय को प्राप्त नहीं होता। ऋग्वेद में सहस्रवल्श अर्थात् सहस्रशाखाओं वाले वनस्पति का उल्लेख है—

वनस्पतिं पवमान मध्वा समङ्ग्धिधारया।
सहस्रवल्शं हरितं भ्राजमानं हिरण्मयम्॥

(ऋग्वेद ९।५।१०)

अर्थात् हे सोम, अपनी मधुमयी धारा से इस वनस्पति को सींच दो, जो सहस्रशाखाओं से युक्त है, जो हरियाला है, और स्वर्ण से बना होने के कारण अत्यन्त प्रकाशमान है। दार्शनिक दृष्टि से भी यह कथन सत्य है। यह विश्वरूपी अश्वत्थ नित्य नूतन रचना शक्ति से हरा है। इसके भीतर अनन्त प्रजनन की शक्ति है। यह ऋत नामक सोम तत्त्व से अपने रोम-प्रतिरोम में सिंचित है। उसी के मधु से इसके मधुकोष नित्य विकसित हो रहे हैं। सृष्टि का जो विश्वव्यापी नियम है, वही अखण्डऋतु या सोम के रूप में इस वनस्पति को हरा-भरा बनाई है। यह सत्त्व रजः तमः इस त्रैगुण्य से प्रकाशित है—यही इसका हिरण्मय प्रकाश है। वैदिक परिभाषा में हिरण्य सत्त्व गुण का प्रतीक है, और सत्त्व में शेष दो गुणों का भी अविनाभाव रहता है। वैदिक परिभाषा में अनन्त को सहस्र और परिमित को शत कहते हैं। अवश्य ही सहस्रवल्शा इस अनादि अनन्त विश्वरूपी अश्वत्थ की अनन्त शाखा प्रशाखाएँ अर्थात् अनन्त सृष्टियाँ हैं। मानवी कल्पना से उनका ज्ञान संभव नहीं। इस प्रकार वृक्ष या वनस्पति को निमित्त बनाकर अश्वत्थ के रूप में वैदिक दर्शन के ही एक सुन्दर भाव को व्यक्त किया गया है। गीता में जिसे ऊर्ध्वमूल अधःशाख कहा है, वह भी यही अश्वत्थरूपी वृक्ष है। यहाँ ऊर्ध्व का तात्पर्य अव्यक्त और अधः का व्यक्त है। दूसरे शब्दों में ऊर्ध्व वृत्त का केन्द्र और अधः उसकी परिधि है। अथर्ववेद में अश्वत्थ का धार्मिक स्वरूप अधिक उभर आता है। वहाँ अश्वत्थ को देवों का निवास स्थान कहा गया है

(अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि, तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत--अथर्व १९।३९।६)। पीपल के वृक्ष पर देवताओं का निवास है—लोक में इस प्रकार का विश्वास आज तक पाया जाता है और यह विश्वास इतना दृढ़ एवं बद्धमूल है कि कोई भी हिन्दू पीपल की शाखा के काटे जाने को सहन नहीं कर पाता। उसकी मानसिक प्रतिक्रिया इस प्रकार की होती है जैसे किसी देवता के जीवित अंगों को उससे अलग किया जा रहा हो। धर्म की कोमल भावना के इस प्रकार लोकव्यापी होने का दूसरा उदाहरण विरल ही है।

वृक्ष पूजा के सम्बन्ध में दूसरी प्राचीन मान्यता 'कल्पवृक्ष' की है। कल्पवृक्ष शब्द वैदिक संहिताओं में नहीं मिलता, उसकी परंपरा लोक के अधिक निकट है। कहा जाता है कि देवता और असुरों द्वारा समुद्र मन्थन करने पर १४ रत्नों के साथ कल्पवृक्ष का भी जन्म हुआ। यह कल्पवृक्ष स्वर्गलोक में इन्द्र के नन्दनवन का वृक्ष बन गया। इस कथानक रूढ़ि से यही सूचित होता है कि आर्येतर वृक्ष पूजा का संबन्ध वैदिक देवता इन्द्र के साथ जोड़ दिया गया। कल्पवृक्ष के सम्बन्ध में एक दूसरी कथा जो लोक के अधिक निकट है, इस प्रकार है कि यह उत्तरकुरु देश का वृक्ष था। महाभारत, रामायण, जातक, दिव्यावदान, जैन साहित्य इन सब में उत्तरकुरु देश और वहाँ होने वाले कल्पवृक्षों का वर्णन पाया जाता है। भीष्मपर्व के अनुसार उत्तरकुरु देश में सिद्ध लोग रहते हैं। वहाँ सदा पुष्प-फल देने वाले वृक्ष हैं। उनमें से कुछ वृक्ष सर्वकामनाओं की पूर्ति करने वाले हैं। कुछ वृक्षों में से अमृत के समान स्वादिष्ट दूध निकलता है, जिसमें छहों रसों का स्वाद मिलता है। उनकी शाखाओं से वस्त्र-आभूषण उत्पन्न होते हैं, और कुछ शाखाओं से अप्सराओं के समान स्त्रियाँ और स्त्रीपुरुषों के जोड़े उत्पन्न होते हैं (भीष्मपर्व ७।२-११)।

रामायण में वर्णन आता है कि जब सुग्रीव ने अपनी वानरसेना को सीता की खोज में उत्तर की ओर भेजा तो उसने कहा उस दिशा के अन्त में उत्तरकुरु प्रदेश है। वहाँ वैसे वृक्ष मिलेंगे, जो सदा फूलते-फलते हैं, वे सब अभीष्ट वस्तुओं को अपने भीतर से उत्पन्न करते हैं। अनेक प्रकार के वस्त्र, जड़ाऊ, आभूषण, सब प्रकार के शयन, मालाएँ, भक्ष्य-भोज्य पान और रूप यौवन से भरी हुई गुणवती स्त्रियाँ ये सब पदार्थ उन कल्पवृक्षों की शाखाओं से उत्पन्न होते हैं।[1]

---

१. जातरूपमयैश्चापि हुताशनसमप्रभैः।
नित्यपुष्पफलास्तत्र नगाः पत्ररथाकुलाः ॥ ४३
दिव्यगन्धरसस्पर्शाः सर्वान् कामान् स्रवन्ति च।
नानाकाराणि वासांसि फलन्त्यन्ये नगोत्तमाः ॥ ४४

महावाणिजजातक (संख्या ४६३) की कथा में कुछ व्यापारी निधि की खोज में निकलते हैं, और उसे ढूँढ़ते हुए एक बड़े वटवृक्ष की छाया में पहुँच जाते हैं। यह वटवृक्ष कल्पवृक्ष का ही रूप था। उसकी पूर्वी शाखा से जल की धाराएँ, दक्षिण शाखा से अन्नपान, पश्चिमी शाखा से स्त्रियाँ और उत्तरी शाखा से सब इच्छित वस्तुएँ उत्पन्न हो रही थीं (वारिदा पुरिमा शाखा अन्नपाने च दक्खिणा, नारिदा पच्छिमा शाखा सब्बकामे च उत्तरा। जातक ४।३५२)।

कल्पवृक्ष की यह मनोरम कल्पना स्वभावतः अत्यन्त लोकप्रिय रही होगी। यद्यपि त्यागप्रधान श्रमणधर्म के साथ इस प्रकार की कल्पना का मेल न था, तो भी बौद्धकला में उत्तरकुरु प्रदेश और उसके कल्पवृक्षों का बार-बार प्रभावशाली चित्रण हुआ है। साँची के तोरणों पर मिथुन या स्त्री-पुरुष कल्पवृक्ष के इन वरदानों का उपभोग करते हुए अंकित किए गए हैं। वहाँ जो अलंकरण उत्कीर्ण हैं, उनमें कितने ही कल्पलता का चित्रण करते हैं, जिनसे आभूषण, वस्त्र आदि

मुक्ता वैदूर्यचित्रानि भूषणानि तथैव च।
स्त्रीणां यान्यनुरूपाणि पुरुषाणां तथैव च॥ ४५
सर्वर्तुसुखसेव्यानि फलन्त्यन्ये नगोत्तमाः।
महार्हमणिचित्राणि फलन्त्यन्ये नगोत्तमाः॥ ४६
शयनानि प्रसूयन्ते चित्रास्तरणवन्ति च।
महाकान्तानि माल्यानि फलन्त्यत्रापरे द्रुमाः॥ ४७
पानानि च महार्हाणि भक्ष्याणि विविधानि च।
स्त्रियश्च गुणसंपन्ना रूपयौवनलक्षिताः॥ ४८

(किष्किन्धाकाण्ड, अ० ४३)

तुल्यरूपगुणोपेतं समवेशं तथैव च।
उत्तराः कुरवो राजन् पुण्याः सिद्धनिषेविताः॥ २
तत्र वृक्षमधुफला नित्य पुष्पफलोपमाः।
पुष्पाणि च सुगन्धीनि रसवन्ति फलानि च॥ ३
सर्वकामफलास्तित्र केचिद् वृक्षा जनाधिप।
अपरे क्षीरिणो नाम वृक्षास्तत्र नराधिप॥ ४
ये क्षरन्तिसदा क्षीरं षड्रसं चामृतोपमम्।
वस्त्राणि च प्रसूयन्ते फलेष्वाभरणानि च॥ ५
मिथुनानि च जायन्ते स्त्रियश्चाप्सरसोपमाः।
तेषां तु क्षीरिणां क्षीरं पिबन्त्यमृतसंनिभम्॥ ८
मिथुनं जायते काले समं तच्च प्रवर्तते।

उत्पन्न होते हुए दिखाए गए हैं। भरहुत की वेदिका पर भी कल्पलता का यह अभिप्राय प्रायः मिलता है। कल्पवृक्ष का सबसे भव्य चित्रण, जो लोकधर्म की कल्पना की मान्यता के अनुसार पूरा उतरता है, बेसनगर या प्राचीन विदिशा से प्राप्त हुआ था। यह लगभग तीसरी शती ईसवी पूर्व का है। इसमें नीचे एक चौकोर कटहरा है, उसके ऊपर एक गोल थामला है, उस थामले की भीतर से एक विशाल वटवृक्ष अपनी अनेक शाखा-प्रशाखाओं के वितान के साथ निकल रहा है। उसकी कितनी ही जटाएँ पृथ्वी की ओर लटक रही हैं। एक ओर दो बड़े थैले, जिनके मुँह बँधे हुए हैं, और जिनमें सम्भवतः रत्न और मणियाँ भरी हुई हैं, झूल-रहे हैं। इन दोनों के बीच में चाँदी की कार्षापणमुद्राओं से भरा हुआ एक घट लटका हुआ है। दूसरी ओर शंखनिधि है, जो अपने मुख से चाँदी की मुद्राएँ उगल रही है। उसके जवाब में दूसरी ओर पद्मनिधि है, जिसकी कर्णिका से उसी प्रकार की मुद्रा बाहर आ रही है। दोनों के बीच में शाखाओं से झूलते हुए कुछ आभूषण और उसी प्रकार मणियों से भरी हुई एक थैली लटक रही है। वृक्ष चौड़े पत्ते और घने फलों से लहलहा रहा है। यह कल्पवृक्ष सम्भवतः कुबेर के ध्वजस्तम्भ का शीर्षभाग था। उसमें अङ्कित शंखनिधि और पद्मनिधि कुबेर की निधियाँ ही हैं, जिनकी गणना नौ निधियों में की जाती है। गुप्तकाल में इन दो निधियों का आदर और मान्यता लोक में बहुत बढ़ गई थी। मथुरा, देवगढ़, वैशाली और जावा के बोरोबुदूर स्तूप तक में शंखनिधि का अंकन पाया गया है। कालिदास ने लिखा है कि उस समय शंख और पद्म इन दोनों का अंकन घर के द्वार-स्तम्भों पर किया जाता था (द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शंखपद्मौ च दृष्ट्वा—मेघदूत, उत्तरमेघ)। इस प्रकार साहित्य के अभिप्राय लोकधर्म की मान्यता और कला के अलंकरण—ये तीनों एक दूसरे का समर्थन करते हैं।

ऊपर कहे हुए वृक्षों के अतिरिक्त और भी अनेक वृक्ष पवित्र माने गये हैं, और किसी न किसी रूप में उनका उत्सव मनाया जाता रहा है। विशेषतः कार्त्तिक में आमलकी (आँवला) वृक्ष का उत्सव और पूजा आजतक प्रचलित है।

रुक्खमह का ही एक स्वरूप उज्जाणमह था, जिसका उल्लेख 'णायाधम्मकहा' की सूची में आया है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वृक्ष की पूजा और उत्सव मनाया जाता था, उसी प्रकार वृक्षों से भरे हुए उद्यान में उत्सव-क्रीड़ा गोष्ठी, समाज आदि का आयोजन किया जाता था। इस प्रकार की क्रीड़ाओं को पालि साहित्य में 'उइयान क्रीडा' कहा गया है। उद्यानक्रीड़ा की गोष्ठियाँ लोक में स्त्री और पुरुषों के जीवन में एकदम भर गई थीं। उद्यानमह उत्सव को ही आगे चलकर उद्यानिका कहने लगे। सिद्धर्षिकृत 'उपमितिभवप्रपंचकथा' में उद्यानिका महोत्सव का बहुत अच्छा वर्णन आया है, जिससे विदित होता है कि ऐसे

अवसरों पर उत्सवों के व्याज से खान-पान की कितनी तरह की और अधिक सामग्री तैयार कराई जाती थी। गुजराती भाषा में संस्कृत उद्यानिका से बना हुआ उजानि शब्द अभी तक बच गया है। अन्य आर्यभाषाओं में भी इसकी परम्परा खोजने योग्य है। उज्जान क्रीडा का समय विशेषकर वसन्तऋतु में हुआ करता था, जब वनस्पतियाँ फूलों के सँभार से लद जाती हैं। वैसे एक उत्सव का वर्णन पालिसाहित्य की निदानकथा में आया है, जो लुम्बिनी उद्यान में मनाया गया था। कपिलवस्तु और देवदह के बीच में लुम्बिनीवन नाम का मंगल शालवन था। उस समय वह मूल से लेकर अग्रशाखा तक फूलों से लदा हुआ था। शाखाओं और फूलों के बीच में पंचरंगे भौंरे और नानाप्रकार के पक्षी मधुर स्वर से कूजते हुए उड़ रहे थे। समस्त लुम्बिनीवन रंग-बिरंगी लताओं के वन के सदृश अथवा किसी महानुभाव राजा के सजे हुए हार की तरह लग रहा था। देवी महामाया ने जैसे ही उसे देखा, उसके मन में शालवनक्रीड़ा की इच्छा उत्पन्न हुई। अमात्य देवी को लेकर शालवन में गये। उसने एक मंगलशाल वृक्ष के नीचे खड़ी होकर उसकी शाखा पकड़ने की इच्छा की। वह शाल की फूली हुई डाली रानी की इच्छा जानकर गरम की हुई वेत की भाँति उसकी ओर झुक गई। उसने हाथ फैलाकर उसे पकड़ लिया। उसी समय उसे प्रसव पीड़ा होने लगी। साल की शाखा को पकड़कर खड़ी हुई मुद्रा में ही उसके गर्भ से बोधिसत्व ने जन्म लिया। (जातक अट्ठकथा की निदानकथा, काशी संस्क०, पृ० ४१)।

इसी प्रकार के उत्सव उद्यानमह कहलाते थे। ऐसे अवसर पर जो क्रीड़ाएँ की जाती थीं, उनके कुछ नाम व्याकरणशास्त्र में और कामसूत्र की विजयमंगला टीका में पाये जाते हैं, जैसे अशोकपुष्पकप्रचायिका, शालभंजिका, उद्दालक-पुष्पभंजिका,[1] वीरणपुष्पप्रचायिका, तालभंजिका, आम्रखादिका, अभ्यूषखादिका, तालभंजिका, आचोषखादिका, दमनभंजिका, शहकारभंजिका, विषखादिका इत्यादि (काशिका २।२।१७, ३।३।१०९, ६।२।७४)। ये क्रीड़ाएँ विशेषरूप से देश के प्राच्य भाग में बहुत प्रचलित थीं, इसलिए पाणिनि ने इन्हें 'प्राचाम् क्रीडा' कहा है (६।२।७४)। जीवपुत्रक प्रचायिका नाम की क्रीड़ा देश के उत्तर-पश्चिम भाग में प्रचलित थी। सम्भवतः जीवतिया के वृक्ष के पुष्पों द्वारा स्त्रियाँ इस क्रीड़ा में

---

१. उद्दालक एक वृक्ष है, जिसे बँगला में चालत कहते हैं, संस्कृत में इसे श्लेष्मान्तक भी कहा जाता है। इसका फल खट्टा और आकृति में ताल सदृश होता है। देखिये—त्रिदेवनाथराय लिखित लेख 'दि इन्डोर एण्ड आउटडोर गेम इन ऐन्शियन्ट इण्डिया, तृतीय इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस का लेखसंग्रह, पृ० २४३।'

भाग लेती थीं। आश्विन कृष्ण अष्टमी को जीवत्पुत्रिका व्रत मनाया जाता है। सम्भव है उसी समय जीवपुत्र प्रचायिका भी मनाई जाती हो। दमनभंजिका चैत्र पौर्णमासी को मनाया जानेवाला दमनोत्सव ज्ञात होता है। वीरणपुष्प-प्रचायिका वैशाख के महीने में मनाई जाती थी। देवी-भागवत के अनुसार चैत्र शुक्ल तृतीया को दोलोत्सव, श्रावण कृष्ण तृतीया को शयनोत्सव, मार्गशीर्ष की तृतीया को जागरणोत्सव, आषाढ शुक्ल तृतीया को रथोत्सव, चैत्र पौर्णमासी को दमनोत्सव और श्रावण पौर्णमासी को पवित्रोत्सव मनाने का विधान है। दोलोत्सव में भी शिव-पार्वती का पूजन दमन या दौने के पुष्पों से किया जाता है।

चैत्र मास में दौने का वृक्ष सुगन्धित पुष्पों से लद जाता है। प्रायः चैत्र के शुक्ल पक्षभर स्त्री-पुरुष इस पुष्प से अपना मनोविनोद करते थे। विशेषतः चैत्र शुक्ल द्वादशी को नवयुवक और नवयुवतियाँ दौने के पुष्पों की मालाएँ और आभूषण बनाकर अपने शरीर को सजाते थे। इस प्रकार अनेकविध उद्यान क्रीड़ाओं से खान-पान, भोजन, नृत्य और संगीत के साथ उद्यानमह या उद्यानिका उत्सव मनाया जाता था। इस देश के स्त्री-पुरुषों को वृक्ष, वनस्पति, लता और पुष्पों से अत्यधिक प्रेम था। अपने वार्षिक तिथिक्रम में उन्होंने वृक्षों और पुष्पों के अनेक उत्सवों का विधान किया है। प्रत्येक उत्सव का सामाजिक मूल्य है। साथ ही उसे धर्म का अंग भी बना दिया गया है, जिससे उस उत्सव में स्थायित्व आ जाता था और विशेष श्रद्धा का संचार हो जाता था। वसन्त ऋतु में रक्ताशोक के लटकते हुए लाल झुग्गों से उस वृक्ष की जो सुहावनी छटा होती है, उसके दर्शन से मनुष्य क्या देवों के भी नेत्र तृप्त हो सकते हैं। वसन्त के उद्यानों की शोभा रक्ताशोक के पुष्पोपहार से कैसी विलक्षण हो उठती है, इसका अनुभव सहृदय रसिक ही कर सकते हैं। भारतीय मानव ने अपना यह कर्तव्य समझा कि रक्ताशोक के इस विकास और पुष्पोपहास में वह भी भाग ले। स्त्रियों के लिए अशोक दोहद नामक उत्सव का विधान किया गया। कुमारी कन्याएँ अशोक वृक्ष के समीप जाकर श्रद्धा से उसके चारों ओर नृत्य करती और नृत्य की भाव-भंगिमा में ही वाम-पाद से वृक्ष का स्पर्श करती थीं। इसके मूल में यह भावना थी कि उस पाद प्रहार से अशोक का वृक्ष पुष्पों की समृद्धि से लहलहा उठेगा। उसके बाद जब पुष्पों का खिलने का समय आता, तो प्रकृति के प्रेमी स्त्री-पुरुष मान-सिक उल्लास से अशोक पुष्पप्रचायिका क्रीड़ा में भाग लेने के लिए उद्यान में पहुँचते थे।

प्राचीन भारतीय समाज में गृहोद्यानों की लोकव्यापी प्रथा थी। साहित्य में इस प्रकार के भवनोद्यानों का और उनकी उद्यानक्रीड़ाओं का वर्णन बहुधा

पाया जाता है। वह प्रबन्धकाव्यों की कथानक रूढ़ियों में एक अभिप्राय ही बन गया था। दण्डी के अनुसार महाकाव्य का स्वरूप तब तक पूरा नहीं समझा जाता, जब तक उसमें उद्यान क्रीड़ा और सलिल-क्रीड़ा का वर्णन न हो (काव्यादर्श)। मुसलमानीकाल में भी गृहोद्यानों की प्रथा जारी रही। उन्हें उस समय नज़रबाग कहते थे। गृहोद्यानों के साथ लोग आत्मीय जैसा प्रेम करते थे, उनमें मानवीभाव का उपचार किया जाता था। बाण ने लिखा है कि रानी यशोवती जातिपुष्पों के गुच्छों का आलिङ्गन करती, भवन-दाड़िमलता और द्वार पर लगे हुए सहकार से मिलकर विदा लेती, रक्ताशोक के स्तबक और अन्तःपुर के बाल-बकुल से आत्मीय जैसा प्रेम करती थी। सचमुच गृहद्वार पर लगे हुए बाल सहकार को वसन्त में देखकर उसके प्रति वात्सल्य उमड़े बिना नहीं रहता। उसके सुकुमार पल्लवों को देखकर लगता है, मानों किसी ने प्रवाल के सुन्दर पल्लवों का लाल रंग उनमें डाल दिया हो। राजाओं के गृहोद्यानों में अनेक प्रकार के लतामण्डप, लतागृह, माधवीमण्डप आदि क्रीड़ा और विश्राम के स्थल बने रहते थे। लंकाधिपति रावण के महल में लतागृह, क्रीड़ागृह, पुष्पगृह, चित्रगृह आदि रम्य क्रीड़ास्थानों का उल्लेख है। एक लम्बी नहर उद्यान और प्रासाद को सींचती थी, जिसे दीर्घिका कहते थे। इसे ही विद्यापति ने कृत्रिम नदी कहा है, जिसके बहते हुए जल में बीच-बीच में क्रीड़ा-वापियाँ बनाई जाती थीं, जिनमें गन्धोदक भरा जाता था और किसी में रंग-विरंगे कमलों के साथ हंसों के जोड़े क्रीड़ा करते थे एवं किसी में भवन-सारसों के युगल किलोल करते थे। उद्यान में ही क्रीड़ा पर्वतक या दारुपर्वत होता था। इस पर भी भाँति-भाँति से मनोविनोद और क्रीड़ाएँ की जाती थीं। णायाधम्मकहा की सूची में उद्यानमह के साथ पर्वतमह का भी उल्लेख है, और उसके अतिरिक्त गिरिमह या गिरियात्रा का भी पृथक् उल्लेख है। गिरिमह का विवेचन ऊपर हो चुका है जो कि गोवर्द्धन, रैवतक आदि प्राकृतिक पर्वतों की पूजा और उत्सव का एक विधान था। संभवतः उद्यानयात्रा के साथ आए हुए पर्वतयात्रा नामक उत्सव का संबन्ध उद्यानों में बनाए हुए कृत्रिम पर्वतों से ही हो। लोक में एक विचित्र प्रथा और भी देखी जाती है। कोई धनी व्यक्ति उद्यान लगाता है और जब परिपक्व अवस्था होने पर उस उद्यान में पुष्प या फल आने लगते हैं, तो वह उस उद्यान के विवाह का उत्सव रचाता है। उद्यान का विवाह कूप के साथ किया जाता है। लोक में एक-एक सहस्र आम्र वृक्षों के विशाल आम्र वन लगाने की प्रथा थी। इन्हें पालि में 'सहस्संब वन' कहते थे। हिन्दी भाषा में 'लखपेड़ा' शब्द अभी तक बच गया है, जो ऐसे आदर्श बाग की ओर संकेत करता है, जिसमें लाख (अर्थात् कितने ही सहस्र) पेड़ हों।

भारतीय कला में वृक्षमह और उद्यानमह की बहुत अधिक सामग्री प्राप्त होती है। साँची के तोरणस्तम्भों पर बौद्ध धर्म से सम्बन्धित कथाओं को जितना अधिक स्थान मिला है, उससे कम स्थान वृक्ष पूजा और उद्यानोत्सव को नहीं मिला। स्त्री और पुरुष भक्तिभाव से वृक्षों को प्रणाम करते हुए दिखाए गए हैं। गन्धर्व सुपर्ण आदि देवता भी पुष्पों की माला लिए हुए वृक्षों का पूजन करते हैं (फरगूसन, ट्री एण्ड सर्पेन्ट वर्शिप्, फलक २५–२६, पृ. १३०)। रायपसेनीय सुत्त (कण्डिका १४८) के अन्तर्गत १८ मह नामक उत्सवों की एक सूची आती है, उसमें नदीमह के अतिरिक्त अगडमह, सरमह और सागरमह का उल्लेख है। अगडमह या अवटमह को कूपमह भी कह सकते हैं। हमने ऊपर उद्यान और कूप के विवाह का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त कुएँ और कुइयाँ का विवाह भी लोक में कराया जाता है। वह भी एक प्रकार का उत्सव है, जिसमें कुएँ की पूजा और ब्रह्मभोज किया जाता है। सरमह का उद्देश्य सरोवर जलाशय आदि बनवाकर उनके उत्सव मनाना था। सरोवर या पुष्करिणी बनवाने की लोकव्यापी प्रथा इस देश में थी। वर्षा काल का जल संचित करने के लिये और कमल इत्यादि के पुष्पों के लिये इनका उपयोग होता था। मथुरा के लेखों में बारबार पुष्करिणी या सरोवर उदपान या कुआं, आराम या उद्यान बनवाने का उल्लेख आता है। पुष्करिणी बनवाकर उसके चारों ओर पक्का पाल या किनारा बांधते थे और उसमें उतरने के लिए चारघाट या सीढ़ियां बनाई जाती थीं। सीढ़ियों के पास चौखण्डी बुर्जियां बनाई जाती थीं। मध्यकाल में तो पाल बांधकर सरोवर बनवाने की प्रथा अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गई थी। सारा बुंदेलखण्ड और बघेलखण्ड का प्रदेश इस प्रकार के सरोवरों से भरा हुआ है। तालाब उस प्रदेश के लिये अमृतकुण्ड थे। चन्देल राजाओं के समय में बरसाती पानी को बन्धा बांध कर तालों में एकत्र कर लेने की देशव्यापी योजना बनाई गई थी, जो आगे भी जारी रही। कहते हैं महाराज वीरसिंह देव के द्वारा एक ही रात में बावनी डाली गई थी, अर्थात् बावन तालाबों और इमारतों की नीवें पड़ी थीं। तीन ओर का दालान देखकर चौथी तरफ बन्धा उठाकर रातों रात चुटकी बजाते बुन्देलखण्ड के वज्र शरीरी आदिवासी ताल या सागर बना डालते थे। बड़े तालों को सागर भी कहते थे। राजा मदनदेव का बनाया हुआ मदनसागर इसी प्रकार मेवाड़ के राजसिंह का बनाया हुआ राजसागर या राजसमुद्र प्रसिद्ध है। संभवतः इन्हीं तालों के निर्माणोत्सव सरमह कहे जाते थे।

अध्याय १०

सागरमह

सागरमह प्राचीन समुद्र-क्रीड़ा या उत्सव का ही रूप ज्ञात होता है। इस प्रकार का उत्सव समुद्र में नावें डालकर मनाया जाता था। उन नावों पर भाँति-भाँति के नृत्य, गीत, मधुपान और भोज द्वारा स्त्री-पुरुष क्रीड़ा करते थे। प्रत्येक मह के यही प्रधान अंग थे। काशी में चैत्र मास में बुढ़वामंगल का मेला गंगाजी पर सैकड़ों नावों में मनाया जाता है। किसी समय नाव और बजरों की संख्या और भी अधिक होती थी। उसी प्रकार कृष्ण का समुद्रमह समुद्र के ऊपर तैरते हुए यानपात्र या जहाजों पर मनाया गया। हरिवंशपुराण में लिखा है कि द्वारका के पास पिण्डारकतीर्थ में प्रतिवर्ष समुद्र-यात्रा का उत्सव मनाया जाता था (द्वारवत्यां निवसतो विष्णोरतुलतेजसः, समुद्रयात्रासंप्राप्ता तीर्थे पिण्डारके नृप—वही २।८८।४)। समुद्रयात्रा पारिभाषिक शब्द है, और इसका अर्थ वही है जो सागरमह का था। यात्रा और मह दोनों एक ही थे। धार्मिक पूजा के साथ सामाजिक उत्सव—यही दोनों की विशेषता थी। समुद्र का यह मेला किस रूप में मनाया गया, इसके विषय में हरिवंश में लिखा है—

समुद्रयात्रा का समय आने पर उग्रसेन और वसुदेव को नगराध्यक्ष बना दिया गया, और सब लोग उत्सव के लिये बाहर निकल पड़े। वृष्णिकुमारों की गोष्ठियाँ सहस्रों गणिकाओं के साथ चलीं। वे क्रीड़ा-नारी सब कुमारों के लिये सामान्य थीं। कृष्ण ने यह सोचकर कि स्त्री के कारण यदुओं में आपसी झगड़ा न हो, नियम बना दिया था कि वेशयोषित् इच्छाभोग्य और सब कुमारों के लिये सामान्य हैं। समुद्र में भरा हुआ जल सुगन्धित और स्वच्छ बना दिया गया। उस विमल जल को कृष्ण की आज्ञा से नमकरहित और मीठा बनाया गया (तोयं विलवणं मृष्टं वासुदेवस्य शासनात्—वही २।८८।२३)। उसमें ऐसा प्रबन्ध किया गया कि कहीं तो वह जल पौर की पिण्डलियों तक गहरा था, कहीं घुटनों तक, कहीं जंघा तक और कहीं स्त्रियों के स्तन तक था। ऐसे जल में प्रवेश कर स्त्रियाँ कृष्ण पर जल की धार फेंकने लगीं और कहीं कृष्ण द्वारा उन पर जल में तैरने के लिये लकड़ी के प्लव या डोंगियाँ डाल दी गईं। उन नावों की गल्ही[1] या अग्रभाग मोर, हाथी,

---

१. काश्चित्काष्ठमयैस्तेरुः प्लवैः सर्वाङ्गशोभनाः।
क्रौञ्चबर्हिण नागानानाकारसदृशैः स्त्रियः ॥२७

मकर, मछली, क्रौंच इत्यादि बहुत रूपों का था, उनमें बैठकर स्त्रियाँ समुद्र के सलिल में रमण करने लगीं। वे झीने वस्त्र पहने थीं। कृष्ण भी उस समय देशकाल के अनुरूप मस्ती में आ गए। नौजवानों की टोलियाँ प्रकाशस्त्री-गणों (अर्थात् वारवनिताओं) के साथ समुद्र-जल में गीतनृत्य के साथ क्रीड़ा करने लगीं।

खिले फूलों की मालाएँ धारण किए हुए स्त्रियाँ हाथ से हाथ पकड़कर, जल में डूबती-उतराती हुई क्रीड़ा करने लगीं। वे जल में इस प्रकार भागती थीं, जैसे स्थल पर भागी जा रही हों। बीच-बीच में इच्छा होते ही बहुत प्रकार के भक्ष्य, भोज्य और पेयों का आस्वादन करती जाती थीं। अन्धकवृष्णिओं की वे नावें बिलकुल घरों के आकार की बनी हुई थीं। उन बजरों के पायतान के ऊपर तरह-तरह के प्रासाद बनाये गये थे। कुछ आयताकार, कुछ चतुरस्त्र, कुछ गोल और कुछ स्वस्तिकाकार थे। किसी का उठान कैलास, किसी का मन्दराचल और किसी का मेरु के समान था। अनेक पक्षियों के और पशुओं के रूप में उन बजरों का निर्माण हुआ था। वैदूर्य के तोरण मणिजटित कटाव और हकीक, यशब आदि की पच्चीकारी से सजाए गए थे। पंख फैलाए हुए गरुड़ की आकृतिवाले क्रौंच, शुक और गज आकृतिवाले बजरे सुनहले बेल बूटों से अलंकृत थे। सुनहले वर्णों से जगमगाती हुई ऐसी नावों को लेकर कर्णधार समुद्र की लहरों पर फैल गए, जिनसे सागर का महोर्मियुक्त जल सुशोभित हो उठा[1]। श्वेतरंग के पोतयान, पात्रनौका और झिल्लि-

---

मकराकृतिभिश्चान्या मीनाभौरपरिचापरा:।
बहुरूपाकृतिधरैः पुप्लुवुश्चापरा:स्त्रिय:॥
(हरिवंश २।८८।२९–२८)

ज्योतिरीश्वर ठक्कुरकृत वर्णरत्नाकर में सिंहमुखी, व्याघ्रमुखी, घोटकमुखी, हंसमुखी, नागफणी, मछतनी, गरुड़ा—ये नावों के नाम आए हैं।

१. नौभिर्गृहप्रकाराभिश्चिक्रीडुरपराजिता:।
स्नातानुलिप्तमुदिताः सायाह्नेन्धववृष्णय॥
आयताश्चतुरस्राश्च वृत्ताश्च स्वस्तिकास्तथा।
प्रासादा नोषु कौरव्य विहिता विश्वकर्मणा॥
कैलासमन्दरच्छन्दा मेरुच्छन्दस्तथैव च।
तथा नानावयश्छन्दा: तथेहामृगरूपिण:॥
वैदूर्यतैरिणैश्चित्रा: चित्राभिर्मणिभक्तिभि:।
मसार्गल्वर्कमयैश्चित्रभक्तिशतैरपि॥

काष्ठों के ऊँचे गुनरखों से समुद्र सुहावना लगने लगा। वे यानपात्र चारों ओर छिटके हुए ऐसे लगते थे मानो आकाश में गन्धर्वनगर बिखरे हों। कुछ यानपात्रों में सजे हुए उद्यानों के कारण बिलकुल नन्दनवन की शोभा फैल रही थी और नन्दनवन की तरह ही उन यानपात्रों पर उद्यान, सभा, वृक्ष, दीर्घिका और विमान के शिल्पों का सन्निवेश किया गया था। कुछ ऐसे थे, जिनको ठीक स्वर्ग की सजावट से सजाया गया था। वे स्वर्ग जैसे लग रहे थे। उस समय वृक्ष प्रसन्न होकर पुष्पों की वर्षा करने लगे। सुखकारी वायु बहने लगा। ऋतु ने सुन्दर रूप सजाया। उस सागरक्रीड़ा के समय बड़े गाजेबाजों के साथ गीत और नृत्य द्वारा समुद्र पर कई योजनों के विस्तार में उत्सव का समाँ बँध गया[1]।

इस प्रकार समुद्रयात्रा या समुद्रमह का अत्यन्त विशिष्ट वर्णन हरिवंशपुराण के लेखक ने दिया है। जल-क्रीड़ा से जब कुछ मन भर गया, तो सब लोग रास-क्रीड़ा करने लगे। उसी देश की भाषा में वैसी ही आकृति और वेश बनाकर हाथों से ताल देती हुई स्त्रियाँ घूम-घूम कर तालक-रास करने लगीं। उन्हें देखकर कृष्ण से न रहा गया। सत्यभामा को साथ लेकर वे भी रास में कूद पड़े। अर्जुन भी उस समुद्रयात्रा के उस उत्सव में भाग लेने के लिये आए हुए थे। सुन्दर अंगयष्टिवाली सुभद्रा को साथ ले वे भी रास में कूदने-ठुमकने लगे। बलराम, सात्यकि, प्रद्युम्न,

---

आक्रीडगरुडच्छन्दाः चित्राः करणरीतिभिः।
क्रौञ्चच्छन्दाः शुकच्छन्दाः गजच्छन्दास्तथापरे॥
कर्णधारैर्गृहीताशा नावःकार्तस्वरोज्ज्वलाः।
सलिलंशोभयामासुः सागरस्य महोर्मिमत्॥

(वही २।८८।५७-६२)

१. समुच्छ्रितैः सितैः पोतैः यानपात्रैस्तथैव च।
नौभिश्च झिल्लिकाभिश्च शुशुभेवरुणालयः॥
पुराण्याकाशगामीव गन्धर्वाणामितस्ततः।
बभ्रमुः सागरजले भैमयानानि सर्वतः॥
नन्दनच्छन्दयुक्तेषु यानपात्रेषु भारत।
नन्दनप्रतिमं सर्वं विहितं विश्वकर्मणा॥
उद्यानानि सभा वृक्षा दीर्घिकाः स्यन्दनानि च।
निवेशितानि शिल्पानि तादृशान्येव सर्वथा॥
स्वर्गच्छन्देषु चान्येषु समासात् स्वर्गसंनिभाः।
नारायणाज्ञयावीर विहिता विश्वकर्मणा॥

(वही २।६३-६७)

साम्ब, सारण, गद, अक्रूर, बलराम के दोनों लड़के निशठ और उल्मुक वहीं समुद्र में तैरते हुए जहाज पर होनेवाले रास में सम्मिलित हो गए। नारद जो अतिथि होकर आए थे, अपने को न सँभाल सके। यदुओं के बीच में घुल-मिलकर कूदने लगे। उनकी जटाएँ बिखर गईं। वे रास की गति से अंगों को डुलाते हुए सत्यभामा, कृष्ण, सुभद्रा, अर्जुन, रेवती, बलराम को देख-देख हँसने और हँसाने लगे। इस प्रकार हँसी का वेग बढ़ता गया और जब कृष्ण ने देखा कि रास का अतिप्रसंग होना चाहता है, तो वे नारद का हाथ पकड़कर समुद्र में कूद पड़े और सबको दो दलों में बाँट दिया। एक ओर के अर्धनेता रेवती के साथ बलराम हुए और दूसरी ओर स्वयं उनका दल, दोनों पक्ष जल-युद्ध करने लगे। पिचकारियों से और हाथों से एक दूसरे के ऊपर जल फेंकते थे। उतने प्रदेश में समुद्र के जल को सुगन्धित, मीठा और ग्राह आदि से रहित बना दिया गया। समुद्र की वेला उतनी दूर तक पौरों को सुखदायी और मनोरम बना दी गई। जलयुद्ध के अनन्तर सब लोग जलक्रीड़ा से निवृत्त हुए और पान-भूमि में एकत्र हो गए। उद्धव और भोज जाति के ब्राह्मण खाने-पीने वाले न थे। उन्होंने शाक, सूप, दूध, दही आदि शाकाहारी भोजन से ही गुजारा किया, लेकिन और लोग मैरेय, माध्वीक, सुरा, आसव के घड़ों पर टूट पड़े, और छक कर प्रियाओं के साथ उनका पान किया। साथ ही खट्टे फल, अनार और पूग के साथ घी में सिद्ध किये हुए मांस, शलाकों पर भुने हुए मांस खंडरे, स्विन्न भूने हुए छोटे पाड़े, तरह तरह के पशुओं की कलेजी के मोटे मांस से अपने को तृप्त करने लगे। कटे हुए आम, समुद्री नमक, मिर्च, मूली, अनार, नीबू, हींग, अद्रक इन सबों के साथ पशु-पक्षियों के घी में बनाए और तैल में बघारे हुए मांस से वे लोग तृप्त होने लगे।

मह के अवसर पर इस प्रकार खान-पान में पशुहिंसा और अतिप्रसंग के कारण ही अशोक ने यह कहा था कि इस प्रकार का समाज (= उत्सव) न करना चाहिए, जिसमें इस प्रकार के दोष हों, किन्तु उसके इस निषेध से भी इतना तो सूचित होता ही है कि साधारणतया इन सब प्रकार के मह समाज यात्रा आदि उत्सवों में खान-पान का ऐसा अतिप्रसंग रहता ही था। यक्षमह, भूतमह, गिरिमह आदि जितने प्रकार के मह उत्सव थे, इस प्रकार का खान-पान और गोष्ठी उन सबकी सामान्य विशेषता समझी जा सकती है।

अध्याय ११

दरीमह

रायपसेनीय की सूची में दरीमह नाम का उत्सव किस प्रकार था—यह स्पष्ट नहीं होता। कालिदास ने हिमालय का वर्णन करते हुए लिखा है कि वनचारी किरात अपनी स्त्रियों को लेकर दरीगृहों में चले जाते हैं और रात में वहाँ रहकर उनके साथ विलास करते हैं[1]। सम्भव है इसके मूल में ऐसी किसी प्रथा का अस्तित्व हो, जो हिमालय पर रहनेवाले किरात और किन्नर जाति के लोगों में प्रचलित थी। वर्ष में किसी नियत समय पर वे पर्वत की कन्दराओं में जाकर अलग-अलग सस्त्रीक विहार करते थे। विशेषतः उत्तर कुरु प्रदेश में इस प्रकार के दरीमह की प्रथा अतिप्राचीन काल में रही हो, और उसीकी अनुश्रुति के आधार पर महों की सूची में दरीमह का भी उल्लेख किया गया हो। साँची के उत्तरी तोरणस्तम्भ पर स्त्री-पुरुषों के पृथक्-पृथक् विहार के कुछ दृश्य अंकित किये गये हैं, सम्भव है वे दरीमह से सम्बन्धित हों, किन्तु इस विषय में साहित्य से और प्रमाण की अपेक्षा है।

---

१. वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्संगनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयोरजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः॥
(कुमारसम्भव १।१०)

अध्याय १२

स्तूपमह और चैत्यमह

णायाधम्मकहा में उल्लिखित यात्राओं की सूची में चैत्ययात्रा (चेइअ जत्ता) और रायपसेणीय की महसूची में चैत्यमह और उसके साथ स्तूपमह का भी उल्लेख है। ऊपर कहा जा चुका है कि प्राचीन काल में पूजायोग्य किसी वस्तु को चैत्य कहते थे और इसी प्रसंग में महाभारत के आधार पर वृक्ष चैत्य का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार के चैत्यों में जो उत्सव मनाये जाते होंगे, वे चैत्यमह कहलाये। स्तूप भी एक प्रकार का चैत्य ही था, पीछे चलकर तो स्तूप और चैत्य एक दूसरे के पर्यायवाची हो गये। चैत्य शब्द का मूल अर्थ चिता से सम्बन्ध रखता है (चितायां भवः चैत्यः)। जिस स्थान पर शव का दाह किया जाता है, वहीं तीसरे दिन अस्थिचयन हो जाने के बाद एक वृक्ष का लगाना आवश्यक धार्मिक कृत्य है, जो अभी तक लोक में किया जाता है। इसी प्रकार जिस स्थान पर किसी व्यक्ति का शव गाड़ा जाता था या उसके अवशेष भूमि में गाड़े जाते थे, वहाँ भी उसके लिए कोई चिह्न मिट्टी या पत्थर के स्तूप के रूप में बनाया जाता था। इन दोनों को ही चैत्य कहते थे। सम्भव है शव-दाह या निखात के स्थान पर इस प्रकार के वृक्षारोपण या स्तूपनिर्माण की प्रथा निषाद संस्कृति से ली गई हो, जिनमें वृक्षपूजा या पाषाणपूजा का प्रचलन था। वे लोग अपने शवों को गड्ढे में रखकर उनपर पत्थर के ढोके रखकर चिह्न बना लेते थे। इस प्रकार के गर्त दक्षिण-भारत में राक्षसगल्लू कहे जाते हैं। राक्षस अर्थात् बड़ा और गल्लू अर्थात् पत्थर। इस प्रकार राक्षस-गल्लू शब्द का वही अर्थ है, जो अंग्रेजी शब्द Megalith का है। इन्हीं आदिम रूढियों से चैत्य स्तूप और चैत्य वृक्ष की प्रथा का उद्गम हुआ होगा। आगे चलकर चैत्यपूजा की प्रथा अत्यन्त लोकव्यापी हो गई। आश्वलायन गृह्यसूत्र में गृहस्थ के लिए चैत्ययज्ञ का विधान है, जिसकी क्रिया यही थी कि गृहस्थ चैत्य के लिए बलि प्रदान करता था (चैत्ययज्ञे प्राक् स्विष्टकृतश्चैत्राय बलि हरेत्—आ० गृह्यसूत्र १।१२)। किन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं है कि चैत्य वृक्ष था या स्तूप।

प्राचीन भारत में चैत्यपूजा का बहुत अधिक प्रचार था, इसका प्रमाण रामायण, महाभारत और बौद्ध एवं जैन साहित्य से पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। लंका में एक बहुत बड़ा चैत्य था। उस चैत्य के स्थान को चैत्यप्रासाद कहा गया है (चैत्यप्रासादं मेरुशृङ्गमिवोन्नतम्—सुन्दरकाण्ड ४३।३)। हनूमान् ने

जब रावण के उद्यान को विध्वंस कर डाला, तब वे सोचने लगे कि मैंने चैत्यप्रासाद का नाश तो किया ही नहीं। उस चैत्य की रक्षा के लिए चैत्यपाल नाम के रक्षक नियुक्त थे। उस प्रासाद के पास एक स्तम्भ भी था[1]। हनूमान् ने अग्नि लगाकर उस चैत्यप्रासाद को जला डाला। ज्ञात होता है कि यह प्रासाद और उसका खंभा दोनों लकड़ी के बने हुए थे। उस चैत्य प्रासाद के बाहर उसका तोरण भी था। हो सकता है, इस चैत्य का स्वरूप बाद के उन स्तूपों के सदृश हो, जो वेदिका और तोरण से घिरे रहते थे। प्रासाद के पास स्तम्भ होने का उल्लेख बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। लौरिया नन्दनगढ़ में मिट्टी के थूहों के पास इसी प्रकार लकड़ी के स्तूप थे, जिनमें से एक दो नमूने बच गये हैं। साँची के महा स्तूप के तोरण के ठीक सामने अशोक ने जो पत्थर का स्तम्भ स्थापित किया उसकी व्याख्या भी इससे समझी जा सकती है। इसी प्रकार काली, भाजा, कन्हेरी आदि स्थानों में जो चैत्य पहाड़ की चट्टान काटकर बनाये गये हैं, उनके सम्मुख भी स्तम्भ अवश्य पाये गये हैं। चैत्य की भाँति स्तम्भ भी उसी पहाड़ को काटकर बनाये गये हैं। पहाड़ में उत्कीर्ण इस प्रकार के चैत्यों को प्राचीन परिभाषा में कीर्ति कहते थे। कीर्ति शब्द का यह प्राचीन अर्थ शिलालेखों के आधार पर निश्चित ज्ञात होता है। कन्हेरी गुफा में मिले हुए त्रैकूटकों के एक लेख में (सन् ४९३) उस पाषाण घटित चैत्य को कीर्ति कहा गया है (तावत्कीर्तिः स्थिरेयं भव्रतु शुभकरी सत्सुतं पुष्यनाम्नः, सिद्धभारती पृ० ४०, श्री बहादुरचन्द छाबड़ा का लेख 'कीर्ति')। कीर्ति के सामने के ये स्तम्भ उस समय की वास्तुशब्दावली में कीर्तिस्तम्भ कहलाये। इन चैत्य गुफाओं को काटने के लिए चट्टान में जो बड़ा बिल या छेद बनाया जाता था, और जो उस चैत्य की समाप्ति पर प्रकाश और वायु के लिए गोलम्बर का काम देता था, उसे कीर्तिमुख कहा गया।

यह स्तम्भ एक प्रकार से यज्ञीय यूपों के प्रतिनिधि थे। जिस प्रकार यज्ञभूमि में यूप की प्रतिष्ठा की जाती थी, उसी प्रकार चैत्यभूमि में स्तम्भ की। यह भी संभव है कि स्तंभ निर्माण की प्राचीन लोक प्रथा ने ही यज्ञ में स्थापित होने वाले यूपों पर प्रभाव डाला हो। कहा तो यह है कि जिस प्रकार लोक में मह हैं, उसी प्रकार देवों के लिए यज्ञ है (यज्ञो वै देवानां महः — शत० १।९।१।११)। इस वाक्य से मह शब्द की अधिक प्राचीनता अभिव्यंजित है।

लंकाकाण्ड में निकुंभिला के चैत्य का भी उल्लेख आता है (रामायण ६।८४।१३)। राक्षसलोग उसी चैत्य में बैठकर अग्नि आदि से हवन करते थे (निकुम्भिलायां विधिवत् पावकं जुहुवे)। सीता को डराने के लिए नियुक्त

---

१. सुन्दरकाण्ड ४३।१७

राक्षसियों के मुख से कहलाया गया है कि हम सुरा पीकर और इस मानुषी का मांस खाकर, नाचकर निकुंभिला को रिझाएँगी (मानुषं मांसमासाद्य नृत्यामोथ निकुंभिलाम्—सुन्दरकाण्ड २४।४५)। संभव है कि निकुंभिला का चैत्य ही लंका का वह चैत्यप्रासाद था, जिसे हनूमान् ने जलाकर नाश कर डाला। महाभारत में भी चैत्यों के कई उल्लेख हैं। कहा गया है कि मरुत्त राजा के राज्य में बिना जोते-बोये ही पृथिवी अन्न देती थी, और चैत्यों से भरी हुई थी (अकृष्टपच्या पृथिवी विबभौ चैत्यमालिनी—शान्तिपर्व २९।१८)। मगध की प्राचीन राजधानी राजगृह के वैहार, विपुल वराह, वृषभ और ऋषिगिरि नामक पंच पर्वतों में पाँचवाँ ऋषिगिरि चैत्यस्थान था। चैत्यस्थान होने के कारण पवित्र था, क्योंकि वहाँ महात्मा गौतम ऋषि ने किसी समय निवास किया था और गौतम का स्थान तब तक वहाँ बना हुआ था (तथैव ऋषिगिरिस्तात शुभाश्चैत्यक-पञ्चमाः)। कृष्ण, अर्जुन और भीम ने मागधों के उस सुन्दर चैत्य से सुशोभित गिरिशृंग का विध्वंस कर डाला (मागधानां सुरुचिरं चैत्यकान्तं समद्रवन्—सभापर्व २९।१७, चैत्यकं च गिरेः शृङ्गं भित्वा, २९।२१)।

किसी बड़े चैत्य और उसके साथ भिक्षुओं के निवास के लिए विहार स्थान बनवा कर उसका उत्सव करना भी—चैत्यमह का एक रूप था। लोक में किसी भी कूप, वापी, तड़ाग, मंडप, मातृभवन, देवस्थान, मन्दिर आदि का निर्माण कराने के बाद निर्माता उसकी विधिवत् पूजा-प्रतिष्ठा कराता है और ब्रह्मभोज के साथ अपने हित-मित्र, बन्धु-बान्धव और बिरादरी का भोज करता है, यही उस मह का स्वरूप था, जिसे चैत्य या विहार बनवाने के बाद विहारमह के रूप में लोग करते थे। पालि महावंश में इस प्रकार के विहारमह का उल्लेख आया है। लंका के दुट्ठगामिणी राजा ने चैत्य बनवा कर उसी के पास एक विहार बनवाया। उसकी रचना के बाद उसने संघ को महादान दिया और एक सप्ताह तक सबको अन्न-पान आदि से तृप्त किया (महावंश, छब्बीसवाँ परिच्छेद मरिचवट्ठि विहारमह)। इसी ग्रन्थ में लोह प्रासाद नामके महाचैत्य के निर्माण एवं उसके मह का बहुत ही विशद वर्णन है। जिस समय लोह प्रासाद का कार्य आरम्भ हुआ राजा दुट्ठगामिणी ने चारों द्वारों पर आठ-आठ लाख हिरण्य, वामों के एक-एक सहस्र पिटारे और गुड़, तैल, शर्करा एवं मधु से भरे हुए अनेक पात्र रखवाकर घोषणा की कि कोई बिना मूल्य लिए हुए यहाँ काम न करे। सबको उसने अपने काम की उचित मजदूरी दी। महाप्रासाद सौ हाथ लम्बा चौड़ा था और उतना ही ऊँचा था। उस श्रेष्ठ प्रासाद में नौ भूमियाँ थीं और एक-एक भूमि में सौ-सौ कूटागार और कमरे थे जो सब चाँदी से खचित थे। उनकी वेदिकाएँ प्रवाल और नाना रत्नों से भूषित थीं और

उनमें रत्नजटित पदुमक या कमल के फुल्लों एवं किंकिणीजाल बने हुए थे। उस प्रासाद में एक सहस्र कमरे (गब्भा) थे, जो सिहपञ्जर नामक जाली से अलङ्कृत थे। बीच में एक रत्नमण्डप बनाया गया जो आकार में कुबेर के नारीवाहन यान सदृश था। वह मण्डप सिंह, व्याघ्रादि की आकृतियों से, देवताओं की आकृतियों से और स्तम्भों से विभूषित था। उस मण्डप के चारों ओर मुक्ता-जाल की झालर और प्रवालनिर्मित वेदिका थी। मण्डप के नीचे स्फटिक के स्थण्डिल पर हाथी दाँत का पलंग बिछा हुआ था, जिस पर सोने का सूर्य, चाँदी का चन्द्रमा और मोतियों के तारे बने हुए थे एवं नाना रत्नों के फुल्ले एवं सुनहली लताएँ बनी हुई थीं। पलंग पर मँहगी चादर बिछी थी जिस पर हाथी दाँत का पंखा रखा था। उसके पास प्रवाल का पादपीठ स्फटिक की भूमि पर रखा हुआ था। पलङ्ग के ऊपर चाँदी के डण्डे वाला श्वेतछत्र सुशोभित था, जिसमें अष्ट मांगलिक चिह्न बने थे और चतुष्पदों की पंक्तियाँ अलङ्करण रूप में बनी हुई थी। आचमन करने के लिए सोने की आचमनकुम्भी रखी हुई थी। उस प्रासाद में अन्य परिभोगों का कहना ही क्या? उसके चारों ओर प्राकार और उसमें चार द्वारकोष्ठक या तोरण बने हुए थे। उस प्रासाद पर तांबे की छत थी, इसीलिए वह लोह-प्रासाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। लोहप्रासाद के बन जाने पर राजा ने संघ को बुलाकर पहिले विहारमह की भाँति ही प्रासाद-मह का उत्सव किया और एक सप्ताह तक सबको महादान व भोजन बाँटा।

इस प्रकार यह प्रासादमह का वर्णन पालिसाहित्य में आया है। प्रासादमह णायाधम्म और रायपसेनीय सूची में नहीं है, किन्तु विहारमह की भाँति धार्मिक चैत्यों अथवा देवस्थानों अथवा स्तूपों के निर्माण के सम्बन्ध में जो उत्सव किए जाते थे, वे सभी मह का स्वरूप रखते थे। विहारमह, प्रासादमह, चैत्यमह, स्तूपमह उसी के अंग थे।

वस्तुतः उसी राजा दुट्ठगामिणी ने विहार और प्रासाद के निर्माण के अनन्तर एक अत्यन्त भव्य महास्तूप का भी निर्माण कराया। अनुराधपुर के इस स्तूप की सिंहल में बहुत मान्यता रही है। कहा जाता है कि जब दुट्ठगामणी ने दमिड़ या तमिल देश पर विजय प्राप्त कर ली, तब उसने भविष्यवाणी के अनु-सार महास्तूप की रचना का विचार किया। उसके लिए आवश्यक सामग्री दूर-दूर स्थानों से संगृहीत की गई, और तब एक बड़ा उत्सव किया गया, जिसमें राजगृह वैशाली, सारनाथ, कौशाम्बी, उज्जयिनी, पाटलिपुत्र, कश्मीर, वनवासी, विन्ध्याटवी यहाँ तक कि अलसन्दा या उलकेजन्द्रिया से भी असंख्य भिक्षु एकत्र हुए। कहा जाता है कि जिस समय चैत्य या स्तूप निर्माण के लिए भूमि नापी जाने लगी तो राजा का उत्साह तो बहुत था, किन्तु सिद्धार्थ नाम के भिक्षु ने भविष्य का विचार

करते हुए सलाह दी कि यदि इतने बड़े स्तूप के लिए नाप जोख की गई, तो राजा के जीवनकाल में उसकी समाप्ति कठिन है, अतएव मज्झिम चैत्य निर्माण करना ही उचित होगा। राजा ने यह सलाह मान ली और महास्तूप नामक चैत्य का निर्माण कराया। स्तूप तैयार हो जाने पर उसे धातुगर्भित किया गया अर्थात् उसके भीतर बुद्ध के अवशेष की स्थापना की गई। पालि लेखक ने बड़ी प्रांजल भाषा में इस महास्तूप के निर्माण का वर्णन किया है। उसमें अनेक प्रकार के रूप या मूर्तियों की सजावट की गई। उदाहरण के लिए अंजलिपग्गह देव, नच्चक देव, तुरीयवादक देव, आदाशगाहक देव (हाथ में दर्पण लिए हुए), उक्खशाखाधरदेव, खग्गधरदेव, पातिधरदेव, धम्मचक्कधरदेव, रतिनधरदेव, पदुमादिकगाहक देव—इन भिन्न-भिन्न मुद्राओं में देवों की आकृतियों के अलंकरण बनाए गए। इसी प्रकार फूलों से भरे हुए पूर्णघट (पुप्फपुण्णघट) अष्टमांगलिक चिह्न, चौपायों की पङ्क्ति, (चतुःपदानं पंत्ति), हंस पंक्ति, मुक्ताकिंकिणी जाल, सुवर्णघण्टापंक्ति, मुत्तादामकलापक (मोतियों के पिरोए हुए झुग्गे), नाना पदुमक (नाना भाँति के कमल के फुल्ले), सूर्य चन्द्र और तारों के अलंकरण—इन सबसे उस महास्तूप का अलंकरण किया गया। इस स्तूप में रखने के लिए बुद्ध की धातु (एक धातु) करण्डक में बन्द करके उनका निधान किया गया। आषाढ़ शुक्ल पक्ष में पूर्णिमा के दिन उस महा चैत्य में धातु प्रतिष्ठा का संस्कार हुआ, उस समय अनेक देवता, ब्राह्मण, नाग, अर्हन्त उपस्थित हुए। राजा ने तीन बार चैत्य की प्रदक्षिणा करके स्वयं अपने हाथ से धातुकरण्डक को स्तूप में स्थापित किया। उसके बाद समस्त भिक्षु संघ और अन्य लोगों को वस्त्र, गुड, घृत आदि बाँटा गया और रातभर जागरण कराकर गणस्वाध्याय कराया गया। गणस्वाध्याय, अर्थात् बहुत से भिक्षुओं या पण्डितों का मिलकर रात में जागरण करते हुए धर्मग्रन्थों का पाठ करना, यह प्रथा हिन्दू-धर्म में भी आजतक प्रचलित है। दिवाली की रात में यजमान के यहाँ एकत्र होकर ब्राह्मण गोपालसहस्रनाम आदि का पाठ करते हैं। किसी विशेष गृहस्थ-मंगल को मनाने के लिए स्त्रियाँ नृत्य गीत के साथ रात्रि जागरण या रतजगा करती हैं। इस प्रकार उस राजा ने चार महों का उत्सव किया—विहारमह, प्रासादमह, स्तूपारम्भमह और धातुनिधानमह (महावंश अध्याय २९–३२)[1]।

जैन आगमग्रंथ रायपसेनीय में भी आमलकल्पानगरी के बाहर आम्रशालवन चैत्य का उल्लेख है। इस चैत्य में सूर्याभ देव ने भगवान् महावीर के दर्शन करके

---

१. विहारमहसत्ताहे प्रासादस्य महे तथा
थूपारं भेतु सत्ताहे तथा धातुनिधानके

उनका उपदेश सुना और तीन बार प्रदक्षिणा करके उनकी पूजा की। फिर उसने बत्तीस अंगवाली नाट्यविधि का प्रदर्शन कराया। इस प्रसंग में सूर्याभदेव के महाविमान और द्वात्रिंशिक नाट्य विधि का जैसा विशद और भव्य वर्णन किया गया है, वह संस्कृत, पालि, प्राकृत किसी साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलता। यदि हम इस कथानक के संक्षिप्त मूल सूत्र को समझने का प्रयत्न करें, तो ऐसा विदित होता है कि इस वर्णन के पीछे प्राचीन चैत्य पूजा और उसके मह का ही वर्णन छिपा हुआ है। आम्रशालवन का चैत्य महावीर के जन्मसे कहीं अधिक प्राचीन था। उसका निर्माण और पूजा एवं उत्सव विधि आदि भी पहले से विद्यमान थी। केवल उनका सम्बन्ध जैनधर्म की नई पृष्ठभूमि में महावीर के साथ जोड़ दिया गया है। सूर्याभदेव के विमान का जो वर्णन है, वह भरहुत, साँची, अमरावती, मथुरा के महाचैत्यों और उनके सम्पूर्ण अलंकरणों के लिए घटित होता है। वस्तुतः विमान-वर्णन की पारिभाषिक शब्दावली स्तूप, वेदिका और तोरण के वर्णन पर घटित होती है। यदि उसके अतिशयोक्तिपूर्ण कल्पनात्मक अंश को हम हटाकर देखें तो उसके मूल में स्तूपनिर्माण - कौशल का वही वर्णन प्रतीत होता है। तीन बार प्रदक्षिणा करके चैत्य की पूजा महावीर की प्रदक्षिणा और पूजा के रूप में बदल जाती है। बत्तीस लक्षणों वाली नाट्यविधि उस महोत्सव का स्वरूप है, जो चैत्यों के साथ सम्बन्धित थे, और जिनकी परम्परा प्राचीनकाल के प्रेक्षण, नृत्य-गीत, नाट्य आदि के रूपों में चली आती थी।

अध्याय १३

कुछ अवान्तर मह

मुकुन्दमह

रायपसेणीय और णायाधम्म की सूचियों में कुछ छोटे महों के नाम और आते हैं। जैसे मुकुन्दमह, भूतमह, अज्जामह, कोट्टकिरिआमह, काममह, यक्खमह, वेस्समणमह। इसके अतिरिक्त चन्दमह और ब्रह्ममह नाम भी मिलते हैं। मुकुन्दमह का अभिप्राय कृष्ण या वासुदेव की प्राचीन पूजा से था। शिव की पूजा के समान लोक में विष्णु या वासुदेव की पूजा भी पाणिनि के समय से मिलने लगती है। वासुदेव को भक्ति और पूजा करनेवाले लोग वासुदेवक कहलाते थे। मथुरा के आसपास भगवान् वासुदेव की पूजा का बहुत प्रचार था। महाक्षत्रप, षोडाश के राज्यकाल के एक लेख में भगवान् वासुदेव के महास्थान में तोरण और वेदिका के निर्माण का उल्लेख है (मथुरा संग्राहलय, वेदिका संख्या ३६७)। इस समय की शब्दावली में देवता की पवित्र जगह को स्थान कहते थे। लोक में अभी तक यक्ष का थान, देवी का थान, इस रूप में इस शब्द का वह प्राचीन अर्थ प्रचलित है। भागवत आन्दोलन के प्रभाव से और देवों की अपेक्षा भगवान् वासुदेव की प्रतिष्ठा अत्यधिक बढ़ गई, इसलिए जब कि और देवों के चौरे केवल स्थान कहलाते थे, भगवान् वासुदेव का पवित्र चत्वर महास्थान कहा जाने लगा। इस महास्थान का स्वरूप क्या था—इस विषय में यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उसके चारों ओर वेदिका या चारदीवारी होती थी और प्रवेश करने के लिए एक या अधिक तोरणद्वार रहते थे, किन्तु बीच में प्राचीन स्थानों की भाँति केवल स्थण्डिल या ऊँचा मण्ड ही रहता था, अथवा मूर्ति और मण्डप या छोटे देवकुल का भी निर्माण होने लगा था—यह स्पष्ट नहीं है। प्राचीन मध्यमिका की वर्तमान नगरी में, जो चित्तौड़ के पास है, शुंग काल में एक नारायणवाटिका भगवान् संकर्षण और वासुदेव की पूजा के लिए स्थापित की गई। इस समय वह स्थान हाथीबाड़ा कहलाता है, क्योंकि कभी मुगलसेना ने उस बाड़े के भीतर अपनी सेना के हाथी बाँधने का काम लिया था। इस चौकोर बाड़े की लम्बाई लगभग ३०० फुट और चौड़ाई १५० फुट है। यह दीवार पत्थर की थी। इस चारदीवारी के ऊपर एक मुंडेरी, जिसे मिलाकर भीत की ऊँचाई ९ फुट ६ इंच थी। इस दीवार के भारी पत्थरों पर तीन जगह एक ही लेख खोदा गया था, जिसमें पाँच बातें मुख्य हैं। एक तो अश्वमेध यज्ञ करनेवाले वैदिक धर्मावलम्बी सर्वतात

नाम के जिस राजा ने इसका निर्माण कराया, उसने भागवतधर्म ग्रहण कर लिया था। भागवत धर्म का तात्पर्य भगवान् संकर्षण और वासुदेव की पूजा थी, जिन दोनों का उल्लेख यहाँ किया गया है। संकर्षण और वासुदेव इन दो नामों का जोड़ा शुंग काल में साथ-साथ प्रसिद्ध हो गया था, यह पहले कहा जा चुका है। सुत्तनिपात की निद्देश नामक टीका में बाइस लोकधर्मावलंबियों के नाम गिनाते हुए वासुदेवव्रतिक और बलदेवव्रतिक इन दो का भी परिगणन एक साथ किया गया है। वासुदेवपूजा और बलदेवपूजा इन दोनों की परम्परा पृथक् धाराओं से आती हुई अन्त में भागवतों के प्रभाव से भागवतधर्म में अन्तर्लीन हो गई। लेख में तीसरा महत्त्वपूर्ण कथन यह है कि नारायणवाटिका में पूजाशिला और प्राकार इन दो का निर्माण किया गया, इससे नारायणवाटिका का स्वरूप ज्ञात होता है, उस स्थान की खुदाई करने से चारदिवारी के भीतर एक स्थण्डिल या ईंटों का एक छोटा चबूतरा बना हुआ पाया गया है। उस चबूतरे पर किसी समय वह पूजाशिला रखी हुई थी, जो मूर्तिनिर्माण से पहले की क्रमिक अवस्था में देवता का प्रतीक मानी जाती थी और पत्थर की उस चौकोर पटिया पर पुष्प पत्र आदि से देवताओं की पूजा की जाती थी। प्राचीनतम मन्दिरों का यही स्वरूप था। बीच में एक स्थण्डिल मण्ड या चबूतरे पर पूजन का शिलापट्ट रखा जाता था और उसके चारों ओर स्थान को घेरने के लिए बाँड़ा या कटहरा बना दिया जाता था, जिसे वेदिका या प्राकार कहते थे। बौद्ध स्तूपों के भी वास्तु का ढांचा यही था। बीच में स्तूप या ऊँचा उठा हुआ मिट्टी, ईंट, पत्थर का थूहा और उसके चारों ओर वेदिका बनी हुई मिलती है। वेदिका का ही रूप यहाँ प्राकार था। अशोक ने बुद्ध के जन्म स्थान की यात्रा करने के बाद सम्मिनदेई (प्राचीन लुम्बिनी) में स्तम्भ पर एक लेख लिखवाया, उसमें उसने कहा है—'हिद बुधे जाते शक्यमुनि ति शिलाविगडभीचा काला तीत शिलाथभे च उस पापिते'; अर्थात् यहाँ शाक्यमुनि बुद्ध का जन्म हुआ, इसलिए उनकी स्मृति में उस स्थान पर उसने शिला विकटभित्ति और स्तम्भ का निर्माण कराया। यहाँ भी पहले शिला शब्द का तात्पर्य 'पूजाशिला', अर्थात् पूजा के लिये शिलापट्ट, यही युक्ति संगत प्रतीत होता है। उस शिला के चारों ओर उस स्थान को घेरने के लिए एक भींत बनाई गई, जो मिट्टी की थी। विगड अर्थात् पालि विकट का एक अर्थ मिट्टी भी था (पालिकोश, पृ० ६९, विनयपिटक १।२०६) और पालि वैकटिक उसी का विशेषण था, जिसका अर्थ था मिट्टी में आसक्त (पालिकोश पृ० १०५, दीघनिकाय १।१६७)। घेरे के पास ही पत्थर का खंभा भी बनाया गया। यह प्रथा वही थी, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। लंका के चैत्य-प्रासाद में भी लकड़ी का खम्भा था। यहाँ वह खम्भा अशोक ने पत्थर का बनाया था, इसीलिए उसे शिलाथम्भ

कहा गया है। नगरी की नारायणवाटिका में स्तम्भ तो नहीं मिला, किन्तु पूजाशिला और भित्ति या प्राकार अवश्य मिली है। पूजा शिला वही है, जिसे मथुरा में मिले हुए जैन लेखों में आयागपट्ट या आर्यकपट्ट कहा गया है। आयागपट्ट अर्थात् आर्यकपट्ट का अर्थ पूजन का पट्ट यही किया जाता है। अंग्रेजी में उसे 'टैबलेट ऑफ होमेज' कहा गया है। कंकालीटीले से इस प्रकार के कई आयागपट्ट मिले हैं, जो अनेक प्रकार के धार्मिक और मांगलिक चिह्नों से अलंकृत हैं। उनकी स्थापना अर्हन्त की पूजा के लिए की गई थी (सिहनादिकस आयागपाटो प्रतिथापितो आरहन्तपूजाये)। लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित एक तोरणमुखपट्ट पर तोरण के भीतर इस प्रकार का दृश्य दिखाया गया है कि कुछ स्त्री-पुरुष स्तूप और आयागपट्टों की पूजा कर रहे हैं। उन तीन आयागपट्टों पर फूल बिखरे हुए दिखाये गये हैं, जो पूजा में चढ़ाये गये होंगे (लखनऊ संग्रहालय मूर्तिसंख्या जे० ५५०; स्मिथ, जैन-स्तूप, फलक २०)। पत्थर की चौकोर पटिया पर फूल-पत्ती चढ़ाकर देवपूजा की विधि सम्भवतः और भी प्राचीनतर यक्ष पूजा से अपनाई गई थी। चित्तौड़ के पास नगरी या मध्यमिका की नारायणवाटिका भारतवर्ष भर में अपने ढंग का एक ही अवशेष है। विष्णु का यह महास्थान प्राचीनतम वैष्णव मन्दिर कहा जा सकता है। आरम्भिक अवस्था में आकाश की खुली छत के नीचे एक छोटे चौतरे पर, जो सम्भवतः पहले कच्चा ही रहता है, बनाया जाता था। पत्थर की पटिया रखकर अपने मनोवांछित देवता की पूजा और उस पवित्र स्थान को घेरने के लिए एक कटहरा एवं उस स्थान से सटा हुआ एक खम्भा जो ध्वजा के काम आता था—यही प्राचीनतम देवस्थानों का स्वरूप था। लोकधर्म के आरम्भिक इतिहास की दृष्टि से यही स्वरूप अत्यन्त स्वाभाविक जान पड़ता है। यद्यपि इस नारायणवाटिका के पास कोई खम्भा नहीं पाया गया, किन्तु प्राचीन विदिशा (आधुनिक भिलसा) के पास वेशनगर नामक स्थान में जहाँ वेशनदी और वेत्रवती का संगम है, यवनराजदूत हिलिओदोर ने भागवतधर्म स्वीकार करने के बाद भगवान् विष्णु के प्रासाद या देवस्थान में गरुड़ध्वज की स्थापना की। प्रत्येक देव के लिए ध्वज की स्थापना उसके पूजा-स्थान का आवश्यक अंग माना जाता होगा, और भी कितने ही इस प्रकार के स्तम्भ पाये गये हैं। गरुड विष्णु का वाहन था, अतएव उनका ध्वज गरुड़स्तम्भ कहलाया। इसी प्रकार स्वामी कार्त्तिकेय के लिए कानपुर जिले के लाला भगत नामक स्थान में कुक्कुट स्तम्भ प्राप्त हुआ है, जिसपर 'कुमारवरः' लिखा हुआ है। मथुरा में एक तालध्वज मिला है, अनुमान होता है कि उसका सम्बन्ध बलराम की पूजा से रहा होगा। ऐसे ही कामदेव के स्थान पर मकरध्वज अर्थात् मकर शीर्षक से अलंकृत स्तम्भ स्थापित किये जाते थे। बौद्ध और जैनधर्म की पृष्ठभूमि

मे उन्हीं का स्वरूप चक्र शीर्ष से युक्त चक्रध्वज या धर्मचक्र स्तम्भ हो गया, जिस प्रकार सुदास के मथुरा वाले लेख में भगवान् वासुदेव के मन्दिर को औरों की अपेक्षा विशिष्ट समझते हुए उसे महास्थान कहा गया है। उसी प्रकार बेश नगर के गरुड़ध्वज लेख में विष्णु के मन्दिर को प्रासादोत्तम अर्थात् अन्य देवताओं के प्रासादों में श्रेष्ठ कहा गया है।

और देवों के मध्य में विष्णु की इस श्रेष्ठ पदवी का निश्चित प्रमाण नगरी के लेख में आए हुए 'सर्वेश्वराभ्याम्' विशेषण से होता है। भागवत सर्वतात का परिचय अपने काल के और भी अनेक देवी-देवताओं से अवश्य रहा होगा। उनकी तुलना में वह संकर्षण और वासुदेव को सर्वेश्वर अर्थात् सबका स्वामी, राजा या अधिपति समझता है। विक्रम काल से कुछ शती पूर्व अपने देश में भागवतधर्म का जो आन्दोलन चल रहा था, उस धार्मिक उथल-पुथल का अन्तिम परिणाम 'सर्वेश्वर' इस संक्षिप्त सूत्र में झलकता है। इसका भाष्य देखना हो, तो गीता के दसवें अध्याय में देखा जा सकता है, जहाँ अनेक देवीं-देघताओं का परिगणन करते हुए लिखा है—'रुद्रों में मैं शंकर हूँ, यक्ष राक्षसों में कुबेर हूँ,, पर्वतों में मेरु हूँ, सेनानीगण में स्कन्द हूँ, जलाशयों में सागर हूँ, स्थावरों में हिमालय हूँ, वृक्षों में अश्वत्थ हूँ, गन्धर्वों में चित्ररथ हूँ, अश्वों में उच्चैश्रवा हूँ, गजेन्द्रों में ऐरावत हूँ, गौओं में कामधेनु हूँ, साँपों में वासुकि हूँ, नागों में अनन्त हूँ, वसुओं में पावक हूँ, दैत्यों में प्रह्लाद हूँ, पक्षियों में गरुड़ हूँ, नदियों में गंगा हूँ, नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ, ज्योतिओं में सूर्य हूँ और वृष्णिओं में वासुदेव हूँ। ये सब मेरी ही विभूतियाँ है। मैं सब भूतों का बीज हूँ। मेरे बिना चराचर में कोई भूत नहीं है। मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है—यह तो दृष्टान्त के लिये विभूतियों का कुछ विस्तार बताया है। जिसमें कुछ भी चमत्कार सौन्दर्य या बल है, वह मेरे ही तेज का अंश है। मैंने सारे जगत् को अपने एक अंश से बिलकुल छाप लिया है' (गीता १० अ०)।

यही नगरी के लेख में आए हुए सर्वेश्वर शब्द की व्याख्या है। भागवतधर्म का यह चमत्कार था, जिसकी संधुक्षित अग्नि में पड़कर अनेक देवी-देवता, छुटभइये यक्ष, भूत, नाग, नदी, सरोवर, पशु, पक्षी सभी उस एक महातेज के अंश घोषित कर दिए गए, जिसकी एक चिनगारी इस समस्त जगत् को आलोकित कर रही है (विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशने स्थितोजगत्—१०।४२)।

देवी-देवताओं के नामों का यह जगड्वाल कुछ गीताकार की मनगढन्त नहीं है, वस्तुतः लोक को इस तरह के न जाने कितनी छुटभइये देवों ने सब ओर से चाँप रखा था। सौभाग्य से इसका एक प्रमाण पालि सुत्तनिपात की निद्देस नामक टीका में बच गया है, जहाँ ठीक गीता की ही तरह २२ देवता और उनके अनुयायी भक्तों का उल्लेख किया गया है। वह सूची इस प्रकार है—

सन्तेके षमणब्राह्मणा वतशुद्धिका । ते हत्थिवतिका (ऐरावतंगजेन्द्राणाम्) होन्ति, ते अस्सवतिका (उच्चैः श्रवसमश्वानां) होन्ति, ते गोवतिका (धेनूनामस्मि कामधुक्) होन्ति, ते कुक्कुरवतिका होन्ति, ते काकवतिका होन्ति, ते वासुदेववतिका [वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि] होन्ति, ते बलदेववतिका होन्ति, ते पुण्णभद्दवतिका [वित्तेशो यक्षरक्षसाम्] होन्ति, ते मणिभद्दवतिका होन्ति, ते अग्गवतिका [वसूनां पावकश्चास्मि] होन्ति, ते नागवतिका [सर्पाणामस्मि वासुकिः अनन्तश्चास्मि नागानां] होन्ति, ते सुपण्णवतिका [वैनतेयश्च पक्षिणाम्] होन्ति, ते यक्खवतिका [वित्तेशोयक्षरक्षसाम्] हान्ति, ते असुरवतिका [प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां] होन्ति, ते गन्धब्बवतिका [गंधर्वाणां चित्ररथः] होन्ति, ते महाराजवतिका [वित्तेशोयक्षरक्षसाम्] होन्ति, ते चन्द्रिमवतिका [नक्षत्राणामहंशशी] होन्ति, ते सूर्यवतिका [ज्योतिषांरविरंशुमान्] होन्ति, ते इन्दवतिका [देवानामस्मि वासवः] होन्ति, ते ब्रह्मावतिका होन्ति, ते देववतिका होन्ति, ते दिशावतिका होन्ति, निद्देस भाग १ पृष्ठ ७९; पृष्ठ ३१० पर भी यह सूची पुनरुक्त है)।

जो अश्वव्रत को धारण करते हैं इत्यादि । इस सूची का निम्नप्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है—

१—प्राकृतिक जगत् की शक्तियाँ—चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, दिशा ।

२—पशु सम्बन्धी सम्प्रदाय—हस्ति, अश्व, गो, कुक्कुर, काक ।

३—भूत, प्रेतादि – नाग, सुपर्ण, यक्ख, असुर, गन्धर्व, पूर्णभद्र, मणिभद्र, महाराज ।

४—भागवत सम्प्रदाय – वासुदेव, बलदेव ।

५—वैदिक देवता—इन्द्र, ब्रह्मा, देव ।

इसी प्रकार की एक सूची मिलिन्दपञ्ह में भी आती है, जिसमें पिशाच, मणिभद्र, चन्द्र, सूर्य, काली देवता, शिव, वासुदेव इत्यादि के गणों का उल्लेख है[1]। सिंहली टीका में इन गणों को उस उस देवता के भक्त (भत्तियो) या माननेवाले कहा गया है। नागसेन का कथन है कि वे अपने अपने गण के भीतर ही अपना रहस्य रखते थे, औरों को उसका भेद न बताते थे (तेसं तेसं रहस्सं तेसु तेसु गणेसु येव चरति अवशेषानम् पिहितम)। इस सूची में मणिभद्र, पूर्णभद्र, शिव, काली आदि देवताओं के भक्त अपने सम्प्रदाय की धार्मिक क्रियाओं को अपने

---

१. मल्ला, अतोण, पब्बता, धम्मगिरिआ, ब्रह्मगिरिआ, नटका, नच्चका, लंघका, पिशाचा, मणिभद्दा, पुण्यभद्दा, चन्द्रिमसुरिया, कालिदेवता, शिवा, वसुदेवा, घनिका, असिपाशा, भद्दिपुत्ता (मिलिन्दपन्ह)।

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय
क्रमसंख्या 3803
प्राप्ति तिथि 11/2/80
State Museum, Library

तक ही सीमित रखते थे, दूसरों को वे उसका उपदेश न करते रहे होंगे, जैसे नट, नर्तक, लंघक अपनी क्रियाविधि को अपने समुदाय तक ही सीमित रखते हैं। इन सूचियों में परिगणित अनेक प्रकार के मत और सम्प्रदायों की क्या विशेषताएँ थीं, और उनके क्या रहस्य थे, यह प्राचीन धार्मिक इतिहास के अन्वेषण का रोचक विषय है। दो एक उदाहरणों से इस पर कुछ प्रकाश डाला जा सकता है, जैसे मज्झिम निकाय के कुक्कुरव्रतिक सूक्त में (संख्या ५१) पुण्यकोलिय पुत्त गोव्रतिक था, और सेनीय अचेल कुक्कुरव्रतिक। इन पर टिप्पणी करते हुए बुद्धघोष ने लिखा है—'गोव्रतिक लोग गोव्रत लेकर सिर पर सींग रख कर पीछे पूँछ बांध कर गायों के साथ घास खाते हुए विचरते थे, इसी प्रकार कुक्कुरव्रतिक कुत्ते के जीवन जैसा व्रत लेकर उसी प्रकार की चेष्टाएँ करते थे[1]'। सम्भवतः नैतिक आचार में भी ये लोग अत्यन्त शिथिल होते थे, जैसा मत्स्यपुराण में उल्लेख है कि सौरभेयधर्म के माननेवाले गम्यागम्य, भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय के विषय में किसी प्रकार भी नियम न मानते थे[2]।

सुत्तनिपात में जिन्हें दिशाव्रतिक कहा है, उन्हें ही भगवती सूत्र में (११।६) दिसापोक्खीय कहा गया है। हस्तिनापुर में गंगा के तट पर शिव नामक एक भिक्षु रहता था। उसने दिशापोक्खीय मत ग्रहण कर लिया। तब वह 'छट्ठं व्रत' (अर्थात् तीन दिन या ६ वार के भोजन में एक वार करनेवाला) रखता था, और जिस दिन अपना उपवास तोड़ता, पहले पूर्व दिशा को जल से सींच कर सोम की पूजा करता और फिर कन्दमूल, फल, पुष्प, पर्ण, शाक आदि का संचय करता, फिर कुटिया में लौटकर वेदिका को झाड़ता-बुहारता और गंगा में स्नान करता, तब बालू और तिनकों से दूसरी वेदि बना कर मन्थन से अग्नि उत्पन्न करता, और मधु, घृत, भक्त से अग्नि में हवन करता एवं चरु से विश्वेदेव और अतिथियों की पूजा करके स्वयं भोजन करता था। उसके बाद

---

१. गोवत्तिकोति समादिप्प गोवतो सिसेसिगानं ठपेत्वा नंगुट्ठं बन्धित्वा गावीहि सद्धिं तिणानि खदन्तो विचरति। कुक्कुरवतिकोटि समादिप्पकुक्कुरवतो सब्बं सुनक किर्यं करोति (पपंच सूदनी ३।१००)।

२. वृषभ उवाच—

नास्माकं विद्यते तात पातकं स्तेयमेव च
भक्ष्याभक्ष्यं तथा चैव पेयापेयं तथैव च
द्विपदां बहवोह्येते धर्म एष गवां स्मृतः।
कार्याकार्यं नवा गम्या गमनं च तथैव च।

(मत्स्य ४८।६९-९०)

फिर 'छट्ठं व्रत' रखता और दक्षिण में यम की पूजा करता, फिर पच्छिम में वरुण की और अन्त में उसी प्रकार छट्ठं व्रत के साथ उत्तर में वैश्रवण की पूजा करता। वाराणसी का सोमिल नामका भिक्षु भी दिसापोक्खी मत का अनुयायी था (निर्याविली सूत्र ३; जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन एन्शियन्ट इन्डिया, पृ० २०४)

इस प्रकार के अनेक विहंगम मत और जंगलीपन के सूचक ऊंवड़-खावड़ सम्प्रदायों के चंगुल में समाज सर्वथा ग्रसित था। ऐसे ही जन-विश्वासों को और धर्मों को बुद्ध ने तिरच्छा विज्ञा और मिथ्याजीवा कहकर जनता को सावधान किया और उनका खण्डन करके विशुद्ध मानवीय दृष्टिकोण समझाने का प्रयत्न किया। दूसरी ओर भागवत लोगों ने अपनी युक्ति से इसी महाव्याधि का समाधान करने का प्रयत्न किया। भागवतों के अनुसार किसी भी मत या पन्थ का निराकरण करने की आवश्यकता नहीं, किन्तु उसका सूत्र उच्च धार्मिक प्रेरणा के साथ जोड़ने की आवश्यकता है। चर-अचर सब में व्याप्त एक ही चैतन्य शक्ति अथवा अमृततत्त्व की संज्ञा वासुदेव या महाविष्णु है, वही सर्वेश्वरदेव सब में व्याप्त है, उसी की सब देव विभूतियाँ हैं। भागवतों ने इसे युक्ति से धार्मिक चेतना को अग्रसर किया। उन्होंने भी समाज से मिथ्या विश्वासों का कूड़ा कर कटर हटाकर वैष्णव तेज से उसकी होली जलाने का प्रयत्न किया।

भूतमह, चन्दमह, सूर्यमह इत्यादि देवताओं और उत्सवों की मान्यता सहज समझी जा सकती है, किन्तु लोकधर्म में जिनकी पूजा का सबसे अधिक प्रचार था, वे यक्ष देवता थे। उनकी पूजा को यक्खमह कहते थे, जिसकी व्याख्या आगे की जायगी।

अध्याय १४

श्री देवता

मिलिन्दमह की सूची में श्री देवता के भक्तों का उल्लेख है। किसी समय लोक में श्री देवी की भी बहुत मान्यता थी। जिस प्रकार अनेक छोटे देवों के समन्वय की धारा का पर्यवसान भागवतों के वासुदेव कृष्ण में हुआ, उसीप्रकार अनेक छोटी-मोटी स्त्री देवियों की पूजा मान्यता की धारा श्री लक्ष्मी की पूजा मान्यता में अन्तर्लीन हो गई और श्री लक्ष्मी भी विष्णु की पत्नी मानी जाने लगी। इस प्रकार भागवतों के हाथों में विष्णु और लक्ष्मी का आदर्श एक प्रकार का आकर्षक रसायन बन गया और उस पारस के स्पर्श से जन विश्वासों की बहुत सी कुधातुएँ स्वर्ण बन गईं। श्री और लक्ष्मी इन देवियों का उल्लेख यजुर्वेद में आया है, अथर्व वेद में कहा गया है कि जब मनुष्य जन्म लेता है तब सौ लक्ष्मियाँ भी उसके साथ उत्पन्न होती हैं। वे पापिष्ठ और शिव दो प्रकार की होती हैं। जो पाप से सनी हुई हैं, उन्हें मनुष्य अपने से दूर हटाता है और जो कल्याणरूपा हैं, उन्हें अपने जीवन में प्रश्रय देता है[1]। लक्ष्मियाँ मूल में एक ही लक्ष्मी के अनेक रूपों की काव्यमय कल्पना हैं। श्री और लक्ष्मी ये दोनों कल्पनाएँ भी अन्त में एक में मिल गई। विराट् पर्व में देवियों का परिगणन करते हुए विष्णु के साथ श्री, दामोदर के साथ लक्ष्मी, इन्द्र के साथ शची, शंकर के साथ रुद्राणी, ब्रह्मा के साथ सावित्री और ग्रह के साथ षष्ठी का उल्लेख किया गया है। (विराट् पर्व पूना, पृ० ७७ श्लोक ३४७) किन्तु यह सूची बहुत बाद की है। वस्तुतः धार्मिक मान्यता में श्री लक्ष्मी एक ही देवी मानी जाने लगी, उसे ही पद्माश्री कहा गया है। शान्तिपर्व अ० २१८ में श्री भूति और लक्ष्मी इनका समन्वय किया गया है---

भूतिर्लक्ष्मीति मामाहु: श्रीरित्येवंचवासव:

(शान्ति० २१७; २२१।१० अहंलक्ष्मीरहं भूतिः श्रीश्चेत्राहंबलसूदनः)

कमल के ऊपर खड़ी हुई पद्मा श्री का 'उल्लेख महाभारत और रामायण में बराबर आता है। शान्तिपर्व में कहा है 'नक्षत्रकलाभरणं ताराभक्तिसमस्रजम्,

---

१. एकशतं लक्ष्म्यो मर्त्यस्य साकं तन्वा जनुषोऽधिजाताः। तासां पापिष्ठाः निरितः प्रहिण्मः। शिवास्मभ्यं जातवेदो नियच्छ।

(अथर्व ७।११५।३)

श्रियं ददृशतुः पद्मां साक्षात् पद्मतलस्थिताम्' (शान्तिपर्व २२१।१४), अर्थात् देवी पद्मा श्री नक्षत्रों के सदृश आभरण और तारों की माला पहनी थी। यह उल्लेख इरानी देवी अनाहिता का स्मरण दिलाता है, जिसे नक्षत्रों के आभूषणों से अलंकृत माना जाता था। अन्यत्र पद्मा श्री देवी के प्रकट होकर साक्षात् दर्शन देने का उल्लेख है—

अभजत् पद्मरूपा श्रीः स्वयमेव शरीरिणी

(आरण्यकपर्व २२९।३)

रामायण में जिस समय भरत ने जनता के सामने अपना यह विचार प्रकट किया कि मैं राम को वापस लाने के लिए स्वयं वन में जाऊँगा, तब उपस्थित जनता ने उनके इस भाषण से प्रभावित होकर इस प्रकार अपना उद्गार प्रकट किया—'हे भरत, ज्येष्ठ राजकुमार के लिये पृथिवी को त्यागने की इच्छा तुम्हारे मन में आई है। ज्ञात होता है, तुम्हारे ऊपर इस समय स्वयं देवी पद्मा श्री उपस्थित हैं' (एवं ते भाषमाणस्य पद्मा श्री रुपतिष्ठताम्, यस्त्वं ज्येष्ठे नृपसुते पृथिवी दातुमिच्छसि—अयोध्या ७९।१५)। कमल वन में कमलों के ऊपर खड़ी हुई पद्मा श्री देवी को कमलों की माला पहनने वाली (पद्म मालिनी) और हाथों में कमल लिए हुए कहा गया है। इस देवी के दोनों ओर दो हाथी केसर और पत्रों से युक्त कमल शुण्डों में उठाये हुए उसकी अर्चना करते हैं, वैसी वह देवी अपने दोनों हाथ अभय मुद्रा में किए है।[1] देवी पद्मा श्री की यह मुद्रा लोक में गजलक्ष्मी के नाम से प्रसिद्ध हुई।

ज्ञात होता है कि श्री के समान एक दूसरी देवी माया नामक थी, जिसकी परम्परा संभवतः श्री से भी अधिक प्राचीन थी। उपनिषदों में 'माया' को प्रकृति का पर्याय कहा गया है—मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्—(श्वेताश्वतर)। शतपथ ब्राह्मण (११।४।३।११) के अनुसार माया असुर-विद्या का पर्याय है। सम्भवतः असुरों की यह माया या शक्ति जिसके द्वारा पृथिवी अपने स्थान में दृढ़ है, माया देवी के रूप में मानी जाने लगी।[2] शान्ति-

---

१. नियुज्यमानाश्च गजाः सुहस्ताः
सकेशराश्चोत्पल पत्र हस्ताः
बभूव देवी चकृता सुहस्ता
लक्ष्मीस्तथा पद्मिनीपद्महस्ता (सुन्दरकाण्ड ७।१४)

२. दृंहस्व देवि पृथिवि स्वस्तय आसुरी माया
स्वधया कृतासि जुष्टं देवेभ्यः इदमस्तु
हव्यमरिष्टा त्वमुदिहिः यज्ञे अस्मिन्। (यजुः ११।६९)

पर्व के एक उल्लेख में स्पष्ट ही माया को असुरों की देवी कहा गया है, और उस देवी को उपमान मानकर श्री के तेज और सौन्दर्य का वर्णन किया गया है—

कात्वं तिष्ठसि मायेव दीप्यमाना स्वतेजसा
हित्वा दैत्येश्वरं सुभ्रु त्वं ममाचक्ष्व तत्त्वतः
(शान्तिपर्व २१९।६)

श्री देवी को सम्बोधन करते हुए यह वाक्य कहा गया है—'हे सुभ्रु, मुझे बताओ तुम कौन हो, जो अपनी तेज से प्रकाशमान माया के समान ज्ञात होती हो।' अश्वघोष ने भी माया देवता का उल्लेख किया है—

तस्य देवी नृदेवस्य माया नाम तदाऽभवत्
वीतक्रोधतमो माया मायेव दिवि देवता।
(सौन्दरनन्द २।४९)

अर्थात् राजा शुद्धोदन की रानी माया नाम की थी, जो क्रोध, अन्धकार और कपट से रहित द्युलोक की देवता माया के समान थी। इस प्रकार माया की कल्पना स्वर्ग की देवी के रूप में की गई है। हनूमान ने सीता को देखकर पहले समझा कि यह नन्दनवन की देवता है, (अवेक्ष माणस्तां देवीं देवतामिव नन्दने—सुन्दरकाण्ड ३०।२)। यद्यपि यहाँ नन्दनवन की इस देवी का नाम नहीं दिया गया, किन्तु अवश्य ही यह उल्लेख माया के लिये ही है। ज्ञात होता है कि 'देवता' केवल इस शब्द से भी माया देवी का अभिधान होने लगा था। सभापर्व में राजा बृहद्रथ सुवर्ण के समान दीप्त तेज वाली जरा देवी को देखकर पूछते हैं—'हे पुत्र प्रदायिनी देवी, तुम कौन हो ? हे कल्याणि, यथाकाम मुझसे कहो। तुम मुझे देवता जान पड़ती हो।' दैत्येश्वर या असुरों की देवी किस प्रकार स्वर्ग के नन्दन वन की देवी बन गई—यह प्रश्न प्राचीन भारतीय धार्मिक इतिहास के धुंधले युगों की ओर संकेत करता है। जब असुर और आर्य संस्कृति एक दूसरे के सम्पर्क में आकर आपस में कुछ ले दे रही थीं, उसी समय असुरों की यह देवी अपनी विशिष्ट प्रभाव के कारण आर्य-मान्यता में भी सुपूजित हो गई। उसकी पदवी और प्रतिष्ठा में किसी प्रकार का ह्रास नहीं हुआ। किन्तु वह कल्याणी देवी के रूप में ही शनैः शनैः इस देश की श्री देवी के साथ मिल गई। लक्ष्मी की एक संज्ञा 'मा' लोक प्रसिद्ध है। वह नाम भी माया की ओर ही संकेत करता है। प्राकृतभाषा में भी 'मा' लक्ष्मी का वाचक है। 'मायि, 'मायिआ' उसके रूपान्तर होते हैं (पाइअसद्दमहण्णवो पृ० ८४७)। भरहुत की कला में एक देवी की मूर्ति मिलती है, जिसे उसके नीचे के अभिलेख में

'सिरिमा देवता' कहा गया है। यह माया देवता का ही चित्रण प्रतीत होता है, जिसे माया, माया देवता, मा, सिरिमा या केवल श्री और मा भी कहते थे।

माया देवता और श्री इन दोनों का भारतीय कला पर भी बहुत प्रभाव पड़ा। बौद्ध, जैन, हिन्दू इन तीनों धर्मों में श्री लक्ष्मी या गजलक्ष्मी की मान्यता पाई जाती है। वैसे ही इन तीनों कलाओं में भी इसका अंकन पाया गया है। उदयगिरि-खंडगिरि की जैनगुफाओं के मुखपट्ट पर इस देवी की मूर्ति है। इसी प्रकार साँची और भरहुत में भी अनेक बार इसका चित्रण हुआ है। मथुरा की शुङ्ग और कुषाण कला में भी लक्ष्मी की और गजलक्ष्मी की बहुत सी मूर्तियाँ पाई गई हैं। गुप्तकला में, अजन्ता में, एलोरा के कैलास मन्दिर में और उसके बाद के अनेक मन्दिरों के मूर्ति शिल्प में तथा अनेक चित्रों में इस देवी का रूप पाया जाता है। लोक में भी इसकी परम्परा बराबर बनी हुई है। दीपावली लक्ष्मीपूजन का सबसे बड़ा पर्व बन गया है। उस समय मिट्टी के खिलौने के रूप में गजलक्ष्मी की मूर्तियाँ लाखों की संख्या में बनती हैं और प्रत्येक घर में उनकी पूजा होती है। वस्तुतः श्रीलक्ष्मी के समान लोकव्यापी अन्य किसी देवी की ओर संकेत करना कठिन है। पिछले ढाई सहस्र वर्षों से शास्त्रीय शिल्प और लोक शिल्प दोनों में इसकी मूर्तियाँ बनाई जाती रही हैं और सबके लिए एकसी प्रिय रही हैं।

कुषाण और शुङ्गकाल की कला में इसके तीन रूप मिलते हैं। पहला रूप तो वह है, जिसमें एक अत्यन्त सुन्दरी स्त्रीमूर्त्ति के रूप में इस देवी का अंकन किया जाता है। उसका केशविन्यास कमलों से सजा हुआ और शरीर अनेक आभूषणों से अलंकृत दिखाया जाता है। इसके केशविन्यास में अंकुश, परशु, ध्वजा, दर्पण, नागमुद्रा, श्रीवत्स आदि मांगलिक चिह्न रहते हैं। इस प्रकार के मिट्टी के खिलौने मथुरा, अहिच्छत्रा आदि प्राचीन स्थानों की खुदाई में पाये गये हैं। देवी के हाथों में कमल नहीं रहते। इस श्रेणी की एक अतिभव्य मूर्त्ति कौशाम्बी से प्राप्त हुई थी, जो इस समय आक्सफोर्ड के इण्डिया म्यूजियम में सुरक्षित है। देवी के इस रूप में मातृदेवी की परम्परा अत्यन्त स्फुट है। उसके मांगलिक चिह्न सूचित करते हैं कि उसका सम्बन्ध रहस्यमयी शक्ति से है। वस्तुतः यही शक्ति आसुरी माया थी। इन मांगलिक चिह्नों के आधार पर इस देवी की पहिचान की सबसे अधिक सम्भावना माया देवी के पक्ष में है। भारतवर्ष से बाहर भी मातृदेवी का सम्बन्ध मांगलिक चिह्नों से था। वस्तुतः मातृदेवी की सबसे स्फुट पहिचान यही थी कि वह मांगलिक चिह्नों का रक्षासूत्र या कठला पहिने हों। अतरगति नामक देवी इस प्रकार का कठला पहिनती थी, जिसमें रक्षा वीटिकाएँ या छोटे-छोटे मांगलिक चिह्नों के तावीज गूँथे जाते थे। यूनान की मातृदेवी सिवेली, जो वहाँ की सब मातृदेवियों में सबसे अधिक प्रतिष्ठा वाली महीमाता

समझी जाती थी और जिसकी पूजा यूनानी संस्कृति से भी एक सहस्र वर्ष पहिले फिजिया देश में प्रचलित थी, सदा रक्षासूत्र या मांगलिक चिह्न पहिने हुए दिखाई जाती है, किन्तु इसके ये चिह्न कठले के रूप में नहीं बल्कि उसकी हार-यष्टि में पिरोए रहते हैं। मथुरा और अहिच्छत्रा से मिली हुई मूर्तियों में कुछ के मांगलिक चिह्न तो हार में नीचे लटकते हुए दिखाये जाते हैं और कुछ के दाहिने या बाएँ पार्श्व में खोंसे रहते हैं (हमारा लेख, अहिच्छत्रा के खिलोने, चित्र संख्या १६, ११, १२, १४, २३, २५)। मथुरा की कुछ मूर्त्तियों में इस देवी का केशपाश, नागमुद्रा, नाना मांगलिक चिह्न से अलंकृत दिखाया जाता है। इस आधार से यह संकेत मिलता है कि मांगलिक चिह्नों से सुशोभित यह देवी भारत और उसके पड़ोसी देशों में फैली हुई मातृदेवताओं के बृहत् परिवार का ही एक अंग थी। इसके भारतीय नाम के विषय में एक अप्रत्याशित स्रोत से मूल्यवान् प्रकाश पड़ता है। जोस्टन ई० एच् जोन्स्टन, (ए० टेराकोटा फिगर एट् आक्सफोर्ड, जर्नल ऑफ दी इण्डिया सोसाइटी ऑफ ओरियण्टल आर्ट का मुखपत्र १६४२ पृष्ठ ६४, १०२) ने कौशाम्बी की आक्सफोर्ड में सुरक्षित विशिष्ट मूर्त्ति का अध्ययन करते हुए इस प्रमाण की ओर विशेष ध्यान दिलाया है कि मिश्र देश के औक्सीरिङ्कस स्थान से एक पेपिरस या लिखित पत्र प्राप्त हुआ था, जो तृतीयशती ईसा का है। उसमें मिश्र की देवी आइसिस की स्तुति करते हुए उस समय के सभ्य जगत् की बहुत सी मातृदेवियों के नाम गिनाते हुए उन्हें आइसिस के समकक्ष बताया गया है। इस सूची में अतरगतिस, अर्स्तरते, ईरानी देवी ननाइआ और भी अनेक नाम हैं। इन्हीं में भारत की माइया का भी नाम है। यह माइया ही माया है, जिसका उल्लेख श्री लक्ष्मी से भी पहिले साहित्य के प्रमाणों से हम ऊपर दिखा चुके हैं। अतएव मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी आदि स्थानों से मिली हुई शुङ्गकालीन इन स्त्री-मूर्त्तियों की पहिचान मायादेवता नामक मातृदेवी से ही सुसंगत ज्ञात होती है।

इस प्रकार के मांगलिक चिह्नों के बने हुए कठलों को आगे चलकर संस्कृत में अष्टमंगलक माला कहा जाने लगा। इस शब्द का रूप प्रयोग बाणभट्ट ने हर्षचरित में किया है, जहाँ १८ द्वीपों की अष्टमंगलक पहिने हुए पृथ्वी का उल्लेख आया है (हर्षचरित - एक सांस्कृतिक अध्ययन)। किन्तु जिस समय की ये माया देवता की मूर्तियाँ हैं, लगभग उसी युग की साँची की कला में एक तोरणस्तम्भ पर इस प्रकार के दो कठले या मंगलमालाएँ दिखाई गई हैं (फर्गुसन —ट्री एण्ड सर्पेण्ट वर्शिप, फलक ३, पृष्ठ ४)। इन मालाओं में निम्नलिखित मांगलिक चिह्न हैं: अंकुश, दर्पण, कर्त्तरी, श्रीवत्स, वैजयन्ती, नन्दिपद, मीनमिथुन, कुठार। इनमें से कुछ तो वे ही हैं, जो उक्त मिट्टी की मूर्त्तियों के केशविन्यास और हारयष्टि में पिरोए हुए मिले हैं। यहाँ विशेषरूप से श्रीवत्स चिह्न की ओर ध्यान दिलाना

आवश्यक है। यह चिह्न आगे चलकर श्री या लक्ष्मी देवी का सूचक माना जाने लगा, जैसा कि श्रीवत्स नाम से ही प्रकट है। भारतीय कला में राजलक्ष्मी की ऐसी मूर्त्तियाँ भी हैं, जिनमें वह श्रीवत्स की आकृति में अंकित की गई है[1]। दीपावली की पूजा के समय आज भी श्रीवत्स के रूप में ही लक्ष्मी की आकृति दीवार पर लिखी जाती है जिसे पश्चिमी उत्तरप्रदेश में सौरती के नाम से पूजते हैं, उसी के साथ ही मिट्टी या खाँड़ के खिलौनों के रूप में भी गजलक्ष्मी की पूजा की जाती है।

माया देवता के अतिरिक्त प्राचीनकाल की अन्य लक्ष्मीमूर्त्तियाँ दो प्रकार की हैं। एक तो कमल के ऊपर या कमलों के बीच में खड़ी हुई कमल की माला हाथ में लिए हुए श्रीमूर्ति, जिसमें हाथियों का अंकन नहीं होता और दूसरे इसी का वह रूप, जिसमें हाथी लक्ष्मी का अभिषेक कराते हैं। इनमें से पहिली पद्माश्री या श्री लक्ष्मी और दूसरी गजलक्ष्मी की मूर्त्तियाँ हैं। वायुपुराण में देवी के छप्पन नामों का परिगणन किया गया है, जिनमें लक्ष्मी, षष्ठी, भद्रा, रेवती, एकानंसा, महिषिमर्दिनी, कात्यायनी, उमा, हैमवती, गौरी आदि नाम भी हैं[2]। अन्त में कहा गया है, महादेवी के प्रज्ञा और श्री अर्थात् श्री और सरस्वती ये ही दो रूप हैं। इन्हीं से सहस्रों देवियाँ उत्पन्न हुई हैं, जो जगत् में व्याप्त हैं (वायुपुराण—८५; ९०)। इस श्लोक की प्रज्ञा और श्री को पढ़कर कालिदास की श्री और सरस्वती का स्मरण होता है, जिन्हें कवि ने एक दूसरे से भिन्न कहा है[3]। इस प्रकरण में दी हुई देवियों की नामावली शुङ्ग, कुषाण और गुप्तकाल में सुपूजित देवियों की सूची ज्ञात होती है, जिनका समन्वय स्वयम्भू के मुख से निकली हुई एक महाशक्ति के साथ किया गया।

मार्कण्डेय पुराण में पद्मिनी नामक विद्या का वर्णन किया गया है। उस विद्या की देवी लक्ष्मी मानी जाती थीं। उसके अन्तर्गत पद्म, महापद्म, मकर, कच्छप, मुकुन्द, नन्दक इन आठ निधियों की व्याख्या की गई है। सोना, चाँदी आदि धातुओं का व्यापार अर्थात् सराफे से प्राप्त संपत्ति पद्मनिधि है। यह पीढ़ी

---

१. शिवराम मूर्त्ति, गाड्स लक्ष्मी एण्ड हर सिम्बल्स। चित्र—१ कावेरी पत्तन से प्राप्त मद्रास संग्रहालय की मूर्त्ति।

२. वायु पुराण ९ अध्याय ८९; ९७, ९८ =
महादेवीकुले द्वे तु प्रज्ञा श्रीश्च प्रकीर्त्यते ॥

३. निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन् द्वयं श्रीश्च सरस्वतीय, रघु० ६ स०

दर पीढ़ी स्थिर रहती है। मोती, मूँगा, लाल आदि रत्नों के क्रय-विक्रय से सात पुस्तों तक रहनेवाली जो सम्पत्ति है, वह महापद्मनिधि कही जाती है। तरह-तरह के हथियारों का क्रय-विक्रय और शौर्यवृत्ति द्वारा राजाओं से जीविका प्राप्ति मकर नाम की निधि है, जो एक ही व्यक्ति के निजी पराक्रम से होती है। यह पुस्त-दर-पुस्त नहीं चलती। कच्छप निधि वह है, जिसके द्वारा व्यक्ति अनेक व्यापार और व्यवहारों को करता हुआ बहुत पैसा बटोर लेता है, पर किसी का विश्वास नहीं करता, न किसी को देता है और न स्वयं खाता है। उसे धरती में गाड़कर देखता रहता है, यह भी एक पुरुष तक रहती है। मुकुन्द नाम की निधि वह है, जिसे पुरुष अपने बाप दादों से पैतृक सम्पत्ति के रूप में जोड़ी-बटोरी हुई प्राप्त करता है एवं मित्रों को खिलाता-पिलाता है और नृत्य, गीत आदि जाननेवाले कलावंतों को उसे प्रदान करता है। यह निधि भी एक के साथ ही रहती है। नन्दक नाम की महानिधि वह है, जिसके द्वारा व्यक्ति, सामन्त भोगिक, ठिकानेदार या जमींदार के रूप में अनेक प्रकार की धातुएँ और रत्नों को प्राप्त करता है और उससे उसके स्वभाव में अभिमान उत्पन्न होता है। सब लोग उसकी स्तुति करते और वह थोड़ा अपमान भी नहीं सह सकता। उसकी निधि सात पुस्तों तक साथ देती है। ऐसा पुरुष बन्धु-बान्धवों का भरण-पोषण करता है। नील नामक वह निधि है, जिसे मनुष्य वस्तु, धान्य, काष्ठ आदि के क्रय-विक्रय द्वारा एवं जल से उत्पन्न मोती, मूँगे, शंख आदि के द्वारा प्राप्त करता है और कुँवा, बावड़ी, तालाब, बगीचे आदि के निर्माण में उसका उपभोग करता है। यह सम्पत्ति तीन पुस्त तक साथ देती है। आठवीं शंख नामक वह निधि है, जिसका स्वामी अकेला ही खाता और पहनता है। मोटा खाता और मोटा ही पहिनता है। न किसी को देता है—यहाँ तक कि मित्र, पत्नी, भाई, पुत्र आदि को भी नहीं। इस प्रकार अष्ट निधियाँ मनुष्यों की सम्पत्ति की देवियाँ हैं।[1] इनसे तृप्त मनुष्य उस स्वभाव का होता है। इन सबकी अधिष्ठात्री देवी पद्मिनी श्री है। (यथास्थितिस्वभावस्तु भवत्येव त्रिलोकनात्। सर्वेषामाधिपत्ये च श्रीरेषा द्विजपद्मिनी, मार्कण्डेय ६८। ४६)। अष्टनिधियों की यह कल्पना गुप्तकाल में विकसित हुई। इसके बाद कालान्तर में खर्व नामक एक निधि और जोड़कर नौ निधियों की अनुश्रुति लोक में और साहित्य में प्रचलित हुई।

देवियों के अनेक नामों और रूपों का अध्ययन करते हुए यह बात ध्यान में आती है कि वे दो वर्गों में बँट जाती है। एक घोर और दूसरी शिव। अथर्व-

---

१. इत्येते निधयः ख्याता नारायणमर्थदेवता:।

(मार्कण्डेयपुराण ६८।४५)

वेद में मनुष्य के जन्म के साथ ही उत्पन्न होने वाली सौ लक्ष्मियों में कुछ को पापिष्ठ और कुछ को शिव या कल्याण दायक कहा गया है (७।११५।३)। लोक में इस प्रकार की धारणा बराबर बनी रही। उसी परम्परा में वायुपुराण के लेखक ने कहा है कि शिव के मुख से जो स्त्री उत्पन्न हुई, उसका आधा शरीर शुक्ल और वामार्धं भाग कृष्ण था (कायार्धं दक्षिणं तस्याः शुक्लं वामं तथा सितम्, सातु प्रोक्ता द्विधा भूता शुक्ला कृष्णा च वै द्विजाः—वायु ९।९३।८४)। इसी मान्यता का उल्लेख सिरि कालकर्णी जातक में आया है। कालकर्णी चातुर्महाराजिक देवों में से विरूपाक्ष महाराज की कन्या थी और सिरि या श्री धृतराष्ट्र महाराज की। वे दोनों अनवतप्त सरोवर में स्नान के लिए गई। पहले कौन स्नान करें—इस बात को लेकर दोनों में विवाद हुआ। कालकर्णी बोली—'मैं लोक का पालन करती हूँ, विचार करती हूँ, इसलिए मैं पहले स्नान करूँगी'। सिरि बोली—'मैं लोगों के ऐश्वर्यदायक सम्यक् कार्यों में रहती हूँ, इसलिए मैं पहले स्नान करूँगी'। उन्होंने निश्चय किया कि इस विवाद का निर्णय चार महाराज देवता करेंगे। चातुर्महाराजिक देव लोक में जाकर उन्होंने अपना प्रश्न पूछा कि हम में से किसे पहले अनवतप्त सरोवर में स्नान करना चाहिए।

धृतराष्ट्र और विरूपाक्ष ने स्वयं निर्णय न देकर उन्हें विरूढक और वैश्रवण के पास भेजा। इन दोनों ने भी कहा—'हम निर्णय नहीं कर सकते, तुम शक्र के पास जाओ।' शक्र ने उनकी बात सुनकर सोचा—ये दोनों ही मेरे पुरुषों की कन्यायें हैं। मैं इनका निर्णय नहीं कर सकता। तब शक्र बोला—'वाराणसी में पंचशीलों की रक्षा करने वाला शुचि परिवार नामका सेठ है, उसके घर में उपभोग में न आया हुआ आसन तथा शय्या है, जो वहाँ उसपर बैठ और सो सके वही पहले स्नान के योग्य है। यह सुन कालकर्णी तुरन्त नीले वस्त्र पहन नीला लेप लगा नील मणि का गहना पहन रात में ही सेठ के प्रासाद की उपस्थान-शाला के द्वार पर आकाश से खड़ी हुई। सेठ ने उसे देखा। वह उसे अप्रिय लगी। उसने पूछा—'काले रंग वाली तू कौन है अथवा किसकी लड़की है?' कालकर्णी ने उत्तर दिया—'मैं विरूपाक्ष महाराज की चण्डिका काली और अलक्षण कन्या हूँ। मेरा नाम कालकर्णी है। मैं आपके पास रहने की आज्ञा चाहती हूँ।' सेठ ने पूछा—हे कालि, तू कैसे शील और आचरण के पुरुष के पास रहती है, सो बता। इसके उत्तर में कालकर्णी ने कहा—'मुझे ऐसा पुरुष प्रिय है, जो अकृतज्ञ हो, बात न मानने वाला हो, झगड़ालू हो, ईर्ष्यालु हो, कंजूस हो, शठ हो तथा जो अपनी आय को व्यसनों में नष्ट कर देता हो। क्रोधी स्वभाव का वैरी, पिशुन, फूट डालने वाला, काँटे जैसी बात कहने वाला कठोर व्यक्ति मुझे बहुत अच्छा लगता है। आज के कर्तव्य और कल पर टाले जाने वाले कर्तव्य

को जो पुरुष नहीं बूझता, सीख देने से क्रोध करता है, श्रेष्ठ पुरुषों से उलझता है, रूपादि में बुरी तरह आसक्त है, तथा सब मित्रों द्वारा परित्यक्त है, वह मुझे सुन्दर लगता है, उसे पाकर मैं सुखी होती हूँ।' यह सुन कर सेठ ने कहा— 'चल कलूटी, यहाँ से दूर हो, मुझमें ऐसे गुण नहीं हैं। तू दूसरे जनपद, निगम या राजधानी में चली जा।' इसपर कालकर्णी ने खीजकर कहा—'मैं भी जानती हूँ कि तुम में ये बातें नहीं हैं। पर लोक में और बहुतेरे 'कुलक्षणी व्यक्ति हैं, जिनके पास पैसा भी बहुत है, मैं और मेरे भाई दोनों उसे चौपट करेंगे। मुझे तेरे मालटाल की क्या परवाह।' यह कह वह चली गई। उसके बाद सिरि देवकन्या सुगन्धित लेपों से युक्त हो, सोने के अलंकार पहन उपस्थानशाला के द्वार पर अपनी सुनहली किरणें बखेरती हुई खड़ी हुई। उसे देख बोधिसत्त्व ने पूछा—'तू कौन है? किसकी पुत्री है?' उसने कहा—'मैं धृतराष्ट्र महाराज की कन्या हूँ। मेरा नाम सिरि और लक्खी (श्री लक्ष्मी) है। मुझे लोग बहुत प्रज्ञावाली कहते हैं। मैं प्रार्थना करती हूँ कि आप मुझे अपने पास रहने दें।' सेठ ने पूछा—'तू कैसे शील और आचार के पुरुष के पास रहना चाहती है?' सिरि ने उत्तर दिया–'जो शीत और उष्ण हवा और धूप, डांस और सर्प, भूख और प्यास, सबको जीतकर रात-दिन अपने काम में लगा रहता है, और काल के आने पर भी अपने उद्देश्य को नहीं छोड़ता, ऐसा पुरुष मुझे प्रिय है। जो ऋजु है, मित्रादि का संग्रह करनेवाला है, मृदुभाषी है, जिसकी बात का विश्वास है, जो ऊँचा होकर भी नम्र है, ऐसे पुरुष को पाकर मैं उस तरह उमंगती हूँ, जैसे समुद्र की लहर। जो मित्र श्रेष्ठ, अपने से ऊँचे, बराबर, या नीचे के साथ अर्थ तथा अनर्थ का व्यवहार करता हुआ अकेले में या प्रकट में उद्देश्य का ही ध्यान करता है, जो कभी कठोर बात नहीं कहता, मैं उस आदमी के मरने पर भी उसी की होती हूँ, जो इनमें से किसी एक गुण के प्रति भी प्रमाद करता है, उसे मैं त्याग देती हूँ। मनुष्य स्वयं अपने आप से लक्ष्मी और अपने आप से ही कुलक्ष्मी बनाता है। कोई किसी दूसरे के लिए लक्ष्मी या अलक्ष्मी का करनेवाला नहीं है।' (अत्तना कुरुते लक्खीं अलक्खी कुरुतत्तना, नहि लक्खी अलक्खीं वा अञ्ञो अञ्ञस्स कारको—सिरिकालकर्णी ३।३६२)। सेठ ने सिरि की यह बात सुनकर उसका स्वागत किया और कहा— 'उपभोग में न आया हुआ यह आसन और शय्या तेरे लिए है।' वह देवी अगले दिन प्रातःकाल ही चातुर्महाराजिक देवलोक में पहुँची और उसने अनवतप्त में पहले स्नान किया। वह शय्या सिरि देवता के उपयोग में आने के कारण 'श्रीशय्या' कहलाई। इस कथा का नैतिक उद्देश्य स्पष्ट है। लोकधर्म की दृष्टि से श्रीलक्ष्मी और कालकर्णी जिसे काली या चण्डिका भी कहा गया है, इन दोनों की परम्परा बराबर जीवित रही। पृथ्वीराज रासो में लिखा है कि जिसदिन

पृथ्वीराज ने अवतार लिया उस दिन कन्नौज, गजी और पाटन—इन देशों के ऊपर कालकर्णी खिलखिला कर हँसी कि मैं अब इनका नाश करूँगी[1]।

इसी प्रसंग में दक्षिण भारत की भी एक मातृदेवी पर विचार करना उचित है। उसका नाम कोट्टवै देवी है। यह दक्षिण भारत की मातृदेवी थी, जिसकी पूजा सर्वत्र प्रचलित थी। उसका रूप राक्षसी का था। पीछे वह दुर्गा या उमा के रूप में पूजी जाने लगी (देखिए अहिच्छत्रा के खिलौने पर मेरा अंग्रेजी लेख, एन्शियेन्ट इन्डिया, भाग ४ पृ० १५२, चित्र २०२–२०३)। श्री जगदीशचन्द्र जैन ने जैन-साहित्य के आधार पर कोट्टकिरियामह अर्थात् कोट्टक्रिया देवी के उत्सव का उल्लेख किया है (देखिए—लाइफ इन एन्शियन्ट इन्डिया पृ० २२४–२५) दुर्गा ही जब महिष पर सवार होती है, तब वह कोट्टक्रिया कहलाती है (णायाधम्म टीका)। इससे यह संकेत होता है कि महिषासुरमर्दिनी और कोट्टक्रिया मूल में एक दूसरे से सम्बन्धित या एक ही परिवार की घोर देवियाँ थीं, जिनकी पूजा आदिम निवासी जातियों में प्रचलित थी। भागवत में बाणासुर की माता का नाम कोटरा है (तन्माता कोटरा नाम नग्ना मुक्त शिरोरुहा—१०।६३।२०)। नंगी रहनेवाली देवी कोटरा और दक्षिण की कोट्टवई दोनों एक ही देवी के नाम थे। बाणभट्ट ने हर्षचरित में कोटुवी का उल्लेख किया है, जिसका दर्शन अपशकुन माना जाता था। टीकाकार शंकर ने कोटवी का अर्थ नंगी स्त्री किया है, जो लक्षण भागवत पुराण की कोटरा में भी समान है। कोषकार केशव के अनुसार कोटवी अम्बिका का ही एक रूप था (कल्पद्रु कोष, १६६० ई० पृ० ३९८, श्लोक १२७)। हेमचन्द्र ने भी (१२ शती) बाल खोले हुए नंगी स्त्री को कोटवी कहा है (नग्ना तु कोटवी—अभिधान चिन्तामणि ३।१९८, टीका नग्ना विवस्त्रा योषित् मुक्तकेशीत्यागमः, कोटने लज्जावशात् याति कोटवी)।

कोटवी की पूजा आदिम निषाद जातियों से चलकर लोक में अनेक नामवाली घोर या रुद्ररूपिणी देवियों के साथ समन्वित होती हुई दक्षिण से उत्तर तक फैल गई। काशी विश्वविद्यालय के आसपास प्राचीन यक्षपूजा और देवी की पूजा के अवशिष्ट चिह्नों की खोज करते हुए मुझे विश्वविद्यालय की भूमि में ही कोटमाई का एक छोटा मन्दिर मिला। जो इसी कोटवी देवी का है। यह भी ज्ञात हुआ कि अलमोड़ा जिले में लोहाधार से बारह मील पर कोटलगढ़ स्थान है। स्थानीय किंवदन्ती है कि वह कोट्टवी का गढ़ था। कोट्टवी बाणासुर की माता

---

१. अवतार लियौ प्रिथिराज पहु। ता दिन दान अनन्त दिया॥
कनवज्ज देस गज्जन पटन। किलकिलंत कालंकनिय॥४०॥
(हजारी प्रसाद द्विवेदी, संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, पृ० ६)

थी। उसका आधा शरीर कवच से ढँका हुआ और नीचे का आधा नंगा माना गया। कथा है कि एक बार महाबलि के पुत्र बाणासुर दैत्य का विष्णु से युद्ध हुआ, तब देवों के प्रयत्न से देवी महाकाली का जन्म हुआ। उसने देवों की ओर से युद्ध में उतर कर असुरों का और उनकी रक्षक देवी कोट्टवी का भी वध किया। कोटल गढ़ का अर्थ है—नंगी स्त्री का गढ़ या वासस्थान (अमृतबाजार पत्रिका, १५ मई १९५२, हिल सप्लिमेन्ट, पृ० ३)। इस सूचना से यह परिणाम निकलता है कि कोटक्रिया, कोट्टवई, कोटरा, कोटवी या कोटमाई की पूजा दक्षिण से लेकर हिमालय के अभ्यन्तर तक में प्रचलित थी। छानबीन करने से लोक में इसके और भी प्रमाण मिलने चाहिए। यह भी ज्ञात होता है कि उत्तर भारत की ओर आते हुए कोट्टवई राक्षसी की पूजा का मेल विन्ध्याचल की महिषासुरमर्दिनी देवी के साथ हो गया, जैसा कि णायावम्मकहा की टीका से ज्ञात होता है। महिषासुर-मर्दिनी देवी की पूजा उत्तर भारत में कुषाणकाल में बहुत अधिक प्रचलित थी, ऐसा मथुरा की कला में प्राप्त सैकड़ों मूर्तियों से प्रमाणित होता है। इसी का समन्वय कात्यायनी और चण्डिका एवं चामुण्डा के साथ हो गया। मार्कण्डेय पुराण में दुर्गासप्तशती की कथा इसी देवी के पदोत्कर्ष की सूचना देती है, जब कि उसे दुर्गा या अम्बिका के समकक्ष मानकर कल्याण करनेवाली महादेवी मान लिया गया। चण्डिका, चामुण्डा, कात्यायनी इन नामों के पीछे भी पृथक् पृथक् स्थानीय देवियों की परम्परा सम्भव है, जिसका विवरण इतिहास के धुंधले पृष्ठों से प्रयत्न पूर्वक छानबीन करते हुए और लोकधर्म की परम्परा को छानते हुए सम्भव है, कभी प्राप्त हो सके।

कोट्टक्रिया देवी के मह या उत्सव का कौन सा समय होगा, इस सम्बन्ध में भारतीय संवत्सर के तिथिक्रम से विचार करने से विदित हुई एक बात ध्यान में आती है। चैत्र शुक्ल पक्ष में और आश्विन शुक्ल पक्ष में जो देवी के दो नवरात्र प्रसिद्ध हैं, उन्हीं में देवी के दो बड़े उत्सव अभी तक समस्त उत्तरभारत में मनाए जाते हैं। इनमें से चैत्र शुक्लपक्ष के नवरात्र का उत्सव उत्तर भारत की महिषासुर-मर्दिनी दुर्गा का मह ज्ञात होता है, जिसकी पूजा का उत्सव विन्ध्याचल में बहुत ही धूमधाम के साथ मनाया जाता है। मूलतः यह विन्ध्यवासिनी देवी का उत्सव उत्तरभारत का उत्सव था। उत्तरभारत के पश्चिमी प्रदेशों में चैत्र का उत्सव ही देवी का बड़ा उत्सव समझा जाता है, और उसी समय नगरकोट या कोटकांगड़ा की देवी का भी उत्सव मनाया जाता है। इस देवी-यात्रा में सम्मिलित होने के लिये अथवा देवी की जात देने के लिये पंजाब, राजस्थान, उत्तरप्रदेश से दूर-दूर के यात्री पहुँचते हैं। आश्विन शुक्लपक्ष की देवी का महोत्सव आदिवासियों की अथवा दक्षिण की कोट्टक्रिया देवी की यात्रा या मह नामक उत्सव का समय ज्ञात होता

है। वस्तुत: यह देवी का पूजन पहले की अपेक्षा अधिक उग्र था। एक तो लोक में इस परम्परा के साथ राम की रावण के ऊपर विजय का सम्बन्ध जोड़ दिया गया है, उससे भी दक्षिण की देवी की ओर संकेत मिलता है। दूसरे आश्विन के नवरात्र की समाप्ति पर देवी का विसर्जन उत्सव शाबरोत्सव कहलाता है, अर्थात् मुण्डा शबर संस्कृति में प्रचलित जो देवी का उत्सव रहा होगा—उसी की परम्परा इस उत्सव में गृहीत हुई। यही कारण है कि पूर्वोप्रदेश में दुर्गापूजा वाले उत्सव का पश्चिमी भारत की अपेक्षा अधिक महत्त्व है। विशेषत: बंगाल में जहाँ शबर संस्कृति का अधिक सांन्निध्य था और घनिष्ठ धार्मिक प्रभाव पड़ा। योगिनीतन्त्र के अनुसार कामरूप में कामाख्या की पूजा के दसवें दिन शाबरोत्सव मनाया जाता था (योगिनीतन्त्र ६३।१६; वाणीकान्त काकति—दि मदर गॉडेस कामाख्या पृ० ४८)। योगिनीतन्त्र में कामरूप की देवी पूजा को कैरातधर्म कहा गया है (योगिनीतन्त्र २।६।६)।

स्थानीय देवियों की यदि देशव्यापी छानबीन की जाय, और वहाँ की अनुश्रुतियों एवं स्थान माहात्म्यों में सुरक्षित धार्मिक परम्पराओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो भारत के धार्मिक समन्वय का एक पूरा संसार ही हमारे सामने आ जायगा। हम देखेंगे कि किस प्रकार हिन्दूधर्म के महा घराट में पड़कर अनेक धार्मिक मान्यताएँ और जन-विश्वास रातदिन पिसते रहे हैं और आपस के भेद खोकर समन्वय की ओर बढ़े हैं। स्थानीय देवियों की पूजा मातृदेवी अम्बिका की राष्ट्रीय पूजा के साथ मिल गईं। कितनी ही नई देवियाँ बाहर से आकर भी उसी धारा में विलीन हो गईं। उदाहरण के लिये गुजरात-काठियावाड़ की रोदल देवी की पूजा है। निमाड़प्रदेश में चैत्र कृष्ण दशमी से चैत्र शुक्ल तृतीया तक के नौ दिनों में गनगौर का उत्सव धूमधाम से मनाया जाता है। उस अवसर पर सारा प्रदेश गीतमय हो उठता है। सबसे अधिक गीत रनुदेवी और उसके पति (दणियेर) सूर्य के संवाद के रूप में गाए जाते हैं। रनुवाई निमाड़ी लोकगीतों की अधिष्ठात्री देवी है। एक गीत में कहा है—

> थारो काई काई रूप बखाण रनुबाई
> सोरठ देश से आई ओ

'हे रनुबाई, तेरे किस किस रूप का बखान करूँ? तू सौराष्ट्र देश से आई है।' सौराष्ट्र से आने का यह संकेत महत्त्वपूर्ण है। एक गीत में रनु को रानी कहा गया है। अन्यत्र रनुबाई के मन्दिर का वर्णन है, जिसमें आसन पर रनुबाई विराजती है, और अपने भक्तों के लिये मन्दिर का द्वार खोल देती है। दूसरे गीत में कहा गया है कि रनुबाई बाँझ स्त्री की कोख वहोड़ कर उसे पुत्र देती है। हमारी सम्मति में यह रनुदेवी सूर्य की पत्नी राज्ञी का ही अपभ्रंश भाषा के

माध्यम से लोकभाषा में घिसा हुआ रूप है। जैसे यज्ञ से जरण—जन्न—जान और उससे जन बनता है, जो कि यज्ञोपवीत शब्द से निकले हुए जनेउ शब्द में पाया जाता है। उसी प्रकार राज्ञी से रराणी—रानी और अन्त में रनु बना। राज्ञी देवी की पूजा गुजरात सौराष्ट्र में प्रचलित थी। वहाँ उसकी अनेक मूर्तियाँ पाई गई हैं। एक मूर्ति के लेख में उसे साम्बादित्य की देवी रणादेवी कहा गया है[1]। सौराष्ट्र में पोरबन्दर के समीप बगवादर और किनरखेड़ा में रन्नादेवी या रांदलदेवी के मन्दिर हैं। मत्स्यपुराण, स्कन्दपुराण एवं विष्णुधर्मोत्तरपुराण आदि के अनुसार राज्ञी और निक्षुभा सूर्य की पत्नियाँ थीं। इन दोनों के अतिरिक्त ऊषा और प्रत्यूषा को भी सूर्य की स्त्रियाँ माना गया है। ज्ञात होता है कि सूर्य के साथ ऊषा-प्रत्यूषा की परम्परा पुरानी और इस देश की अपनी थी। उसी के साथ राज्ञी और निक्षुभा की परम्परा बाहर से आकर जुड़ गई। ईरानी मिथ्र (या मिहिर) धर्म के अनुसार मिथ्र के दो पार्श्वचर थे। एक रश्न, और दूसरा नर्शफ। हमारी सम्मति में यही दोनों भारतीय सूर्यपूजा में रूपान्तरित होकर राज्ञी और निक्षुभा कहलाए। पहलवी भाषा में मिथ्र या मिहिर की सहयोगिनी देवी का नाम रश्न था, जैसे यज्ञ और जश्न एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, वैसे ही राज्ञी और रश्न का भी आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। ईरानी व्युत्पत्तिशास्त्र के अनुसार मूल यज्ञ शब्द से ही पहलवी ज़श्न बना है। राज्ञी देवी की पूजा का चलन काठियावाड़, गुजरात में क्यों और कैसे हुआ—इस प्रश्न पर विचार करते हुए ईरानी शकों की ओर ध्यान जाता है, जिन्होंने लगभग ३०० वर्ष तक उज्जयिनी को राजधानी बनाकर मालवा से काठियावाड़ तक के प्रदेश पर शासन किया। चौथी शती के अन्त में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के प्रताप से सौराष्ट्र की यह भूमि क्षत्रप शकों के आधिपत्य से मुक्त हुई। इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रनुवाई, रानदेवी या रादल माँ की पूजा गुजरात, सौराष्ट्र, निमाड़ और मालवा के विस्तृत भूभाग में प्रचलित हुई होगी। (देखिए—जनपद वर्ष १, अंक २, पृष्ठ ६१–६२)

इस देश की लोकसंस्कृति अति विलक्षण है। ईरान की रश्न देवी, निमाड़ की रनुवाई के रूप में लोकगीतों का विषय बनी है। एक गीत में कहा गया है—

सोन्ना रूपा का घड़ा गढ़िल रेशम लम्बी डोर हो, झालरिओ।
रनु बाई गंगा भरिया, जमना भरिया, जाय कवेरी झपोल हो, झालरियो।

अर्थात् सोने और चाँदी का घड़ा बनाया, रेशम की लम्बी डोरी से उसे बाँधा, और बालापन के खेलों में क्रीड़ा करती हुई रनुवाई ने उसे गंगा में जाकर भरा,

---

१. देखिए श्री एस० सी० उपाध्याय का लेख—१४ शती की राज्ञी देवी की मूर्ति, जर्नल यू० पी० हिस्टोरिकल सोसायटी १९६०, पृ० २१३–२१७।

यमुना में भरा और कावेरी में जाकर झकझोर कर भरा। लोकगीतों की कन्या गंगा से कावेरी तक एक और अखण्ड है। सुदूर दक्षिण में समुद्र तट पर बने हुए मन्दिर में शिव का ध्यान करती हुई कुमारी कन्या मानो राष्ट्रव्यापी इन सब कन्याओं का देवी रूप है। वह उत्तर के कैलास पर स्थित शिव के ध्यान में अहर्निश तप करती हुई उसी विराट् ऐक्य का चिन्तन कर रही है, जिसकी प्राणधारा दक्षिण से उत्तर और उत्तर से दक्षिण तक नित्य प्रवाहित होती रहती है। लोक चैतन्य की यह ज्योति भीतर ही भीतर न जाने कब से जल रही है। 'अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती, व्यख्यन् महिषो दिवम्'—इसी के प्रताप से इस देश की समन्वयात्मक संस्कृति का निर्माण हुआ। यहाँ की राष्ट्रीय ज्ञानाग्नि में अर्थात् संस्कृति के राष्ट्रीय अग्निहोत्र में स्थान-स्थान से असंख्य आहुतियाँ कई सहस्र वर्षों से निरन्तर डाली जा रही हैं। उन्हीं के लक्ष होम या कोटि होम का पुण्यफल भारतोय संस्कृति है।

भारतीय लोक-संस्कृति देश और काल में नित्य-नित्य प्रवर्धमान एक अद्भुत प्रक्रिया है, जो पहले थी, आज भी हो रही है, और आगे भी होती रहेगी। इसे अतीत युग का पथराया हुआ पुरातत्व मानकर इसका तिरस्कार नहीं किया जा सकता। यह तो आज भी जीवन के बल से बलवती है। लोक के मानस में इसके प्रति आस्था बनी है और उस मानस को यह समन्वय का नील लोहित रूप देकर उसपर और गहरा रंग चढ़ा रही है। भारत की इन नाना देवियों का गोपालगुजरी रास कभी संस्कृति के प्रथम प्रभात में आरम्भ हुआ था। प्रत्येक दो देवियों के बीच में उनका हाथ पकड़े हुए स्वयं भारत की आत्मा ताल दे रही है, और उस नृत्य के छन्द को आगे बढ़ा रही है। इस देश में समन्वय ही एकमात्र जीवन का रस है—यही यहाँ की संस्कृति के लोक तत्त्व का विधान है, जो नित्य फूलता फलता हुआ जीवन को धारण किए हुए है।

अध्याय १५

यक्षमह (यक्खमह)

केले के पेड़ में जैसे एक के ऊपर एक चढ़े हुए परतों के भीतर उसका गाभा रहता है, वैसा ही कुछ भारतीय संस्कृति का रूप है, जिसमें अनेक धर्मों के खोल एक दूसरे के ऊपर चढ़ते चले गये हैं। वे सब एक दूसरे के साथ अत्यन्त शीतल-भाव से इस प्रकार मिल बैठे हैं, जैसे गंगा की धारा में पड़े हुये गंगलोढे आपस में टकराकर गोलमटोल बनते हुए एक साथ पड़े रहते हैं और रात दिन अधिकाधिक अभेद की स्थिति प्राप्त करते हुए अन्त में गंगा की बालुका बन जाते हैं, जिससे इस भूमि की मिट्टी का निर्माण हो रहा है। यह संस्कृति अद्‌भुत है। इसके सारे परतों को खोलकर उनका अर्थ समझना बड़ा रहस्यमय व्यापार है। कहाँ से क्या आ गया है, किसने कितना दिया है और किसने कितना लिया है, इसका सच्चा लेखा जोखा लगाना कठिन काम है। अग्नि के उछटते हुए स्फुलिंगों की भाँति सांस्कृतिक समन्वय के प्राचीन तथ्य जब चमककर दृष्टिपथ में आ जाते हैं, तो उनसे मन को विलक्षण आनन्द प्राप्त होता है और इस महती संस्कृति के प्रति श्रद्धा बढ़ती है एवं हम उस जीवनक्रम के प्रति आस्थावान् बनते हैं, जिसके श्वास-प्रश्वास में समवाय और समन्वय एवं मेल-जोल और स्वच्छंदता के प्राणवायु क्रियाशील रही है। भारतीय संस्कृति सभी विभिन्न तत्त्वों का संग्रह करती है, निराकरण जैसे उसे सुहाता ही नहीं। नदी, वृक्ष, पर्वत, यक्ष, नाग, देव, भूमि आदि अनन्त देवी देवताओं की पूजा मान्यता को स्वीकार करती हुई यह संस्कृति आगे बढ़ी है और उसी मन्थन के बीच से इसने भुवन के मध्य में भरे हुए महान् देव या अमृत तत्त्व को ढूँढ़ निकाला था।

भारतीय लोकधर्म के देवताओं में यक्ष की पूजा लोक में किसी समय सबसे अधिक व्याप्त थी। एक ओर इसका उल्लेख ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, गृह्यसूत्र, पुराण, जातक, दीघनिकाय, पालि साहित्य के अन्य ग्रन्थ, जैन आगमसाहित्य, भाष्य, चूर्णि कथा, संस्कृत-साहित्य के काव्य-कथाग्रन्थ आदि में आता है, दूसरी ओर लोक में वीर-बरह्म के रूप में इसकी पूजा बंगाल से गुजरात तक और हिमालय से कन्याकुमारी तक आज भी प्रचलित है। इस समस्त सामग्री का संग्रह करके इस विषय का अध्ययन किया जाय, तो स्वतन्त्र ग्रन्थ ही बन

सकता है। डा० आनन्दकुमार स्वामी ने इसी विषय पर यक्ष नामक ग्रन्थ दो भागों में प्रकाशित कराया था[1]।

भूत, पिशाच, किन्नर, राक्षस, गन्धर्व, यातुधान, किम्पुरुष, नाग, दानव आदि प्राचीन देवताओं की सूचियों में यक्षों का मह उल्लेख भी आता है, और आदिम लोकधर्म के देवी देवताओं की पंगत में एक ही साथ कन्धे से कन्धा रगड़कर यक्ष भी दिखाई पड़ते हैं।

यक्ष किसी समय सबसे प्रमुख देवता माने जाते थे। शनैः शनैः आर्यदेवों के सम्पर्क में आने से आर्यदेवों का प्रभाव बढ़ा और उन्हें यक्षों की तुलना में ऊँचा पद दिया जाने लगा। कोई भी आर्यदेव सम्भवतः ऐसा नहीं है, जिसे यक्ष न माना गया हो, अर्थात् यक्ष के साथ जिनकी उपमा देकर उसे गौरव न दिया गया हो। शनैः शनैः एक ओर आर्यदेवताओं के साथ तुलना करने से यक्षों का पद हीनतर होने लगा और दूसरी ओर भूत-पिशाचादि गणों के परिवार में सम्मिलित होने से यक्षों का स्वरूप भी घोर और रौद्र माना जाने लगा। बौद्ध और जैन धर्म के साथ भी यक्षों का समन्वय हुआ। अनेक यक्ष और यक्षिणियाँ बुद्ध के प्रभाव में आकर बौद्धधर्म के देवता मान लिए गये। यक्ष और यक्षी मूर्तियाँ बौद्ध स्तूपों में बनाई जाने लगी। अशोक के शब्दों में अमिषादेवा, मिषाकटा अर्थात् जो देवता बुद्धधर्म में मिले हुए न थे, उन्हें उस धर्म में मिलाने के लिए रास्ता खोल दिया गया। इसका फल बौद्ध कला में तुरन्त ही देखने को मिला। जैनधर्म में प्रत्येक तीर्थंकर के साथ आरक्षक देवताओं के रूप में एक यक्ष और एक यक्षी का सम्बन्ध जोड़ दिया गया। और भी, क्या शास्त्रीय धर्म, क्या लोकधर्म, देवी, देवताओं की बिरादरी में बिना रोक-टोक यक्षादिक देवों का प्रवेश हो गया।

यक्ष को पालि में यक्ख और प्राकृत में जक्ख कहा गया है। लोक में इन्हीं से जाख जखैया ये शब्द प्रचलित हैं। सिंघली भाषा में यक्ष-यक्षी को यका, यकी कहते हैं। दक्षिणभारत में उसे यक्क कहा जाता है। यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में मतभेद है। रामायण के अनुसार प्रजापति ने जलों का निर्माण किया (आपः सलिलसंभवाः)। उनकी रक्षा के लिए कुछ सत्त्वों का निर्माण किया गया। उन्होंने ब्रह्मा से पूछा—'हम क्या करें ?' ब्रह्मा ने कहा 'रक्षध्वम्'। उत्तर में कुछ ने कहा—'यक्षामः'। 'रक्षामः' कहने वाले राक्षस हुए और यक्षामः कहनेवाले

---

१. यक्षस् भाग १, स्मिथसोनियन् इन्स्टिटिडिसन १९२९, यक्षस् भाग २—१९३१, दोनों भागों में मिलाकर ८७ फलक भी हैं, जिनमें भारतीय कला के आधार पर यक्ष देवताओं से सम्बन्धित एवं सलिलसम्भव अन्य देवताओं और अलंकरणों से सम्बन्धित चित्र दिये गये हैं।

यक्ष[1]। 'यक्षामः' का अर्थ कुमार स्वामी ने खानेवाले या गटकनेवाले किया है। पर भोजन के अर्थ में भक्ष धातु तो है, यक्ष् नहीं। चुरादिगण में एक यक्ष्धातु है, जो बाद की जान पड़ती है। वैदिक यक्षधातु भोजन के अर्थ में न होकर पूजा करने, सम्मान करने आदि धार्मिक क्रिया के अर्थ में प्रचलित थी। कीथ आदि कुछ विद्वान् यजधातु से यक्ष बनाते हैं, इसका अर्थ होगा 'यजनीय' (यजन के योग्य)।

कुछ अर्वाचीन मत ऐसा होने लगा है कि यक्ष् शब्द किसी निषाद भाषा के शब्द की संस्कृत में अनुकृति है।

वैदिक संहिताओं में ही यक्ष को अद्‌भुत स्वरूप, सुन्दर, महान् व पुजारी देव के रूप में मनाने लगे थे, इसका प्रमाण ऋग्वेद में मिलने लगता है। यक्ष की सबसे बड़ी विशेषता उसका अद्‌भुत या विलक्षण रूप था—'हे मित्र और वरुण, तुम्हारी वे प्रजाएँ सब बुद्धि से अमूर्च्छित हैं। जिनमें न कोई विचित्र आश्चर्य और न यक्ष देखा जाता है[2]। दूसरे मन्त्र में कहा है—हे अद्‌भुत शक्ति वाले मित्र और वरुण, हम अपने शरीरों में यक्ष का आविर्भावन देखें[3]। इसमें मित्र और वरुण को अद्‌भुत क्रतु कहा गया है। जो विशेषता यक्ष में होती थी, उसीका मित्रावरुण में अध्यारोप करके यह भावना की गई है कि जब तुममें भी वही

---

१. प्रजापतिः पुरासृष्ट्वा अपः सलिलसम्भवाः।
तासां गोपायने सत्त्वानसृजत् पद्मसम्भवः ॥९॥
ते सत्त्वा सत्त्वकर्तारं विनीतवदुपस्थिताः
किं कुर्म इति भाषन्तः क्षुत्पिपासाभयार्दिताः ॥१०॥
प्रजापतिस्तु तान् सर्वान् प्रत्याह प्रहसन्निव।
आभाष्यवाचा यत्नेन रक्षध्वमिति मानदः ॥११॥
रक्षाम इतितत्रान्यै यक्षाम् इति चापरैः
भुक्षिताभुक्षितैरुक्तस्ततस्तानाह भूतकृत् ॥१२॥
रक्षाम इति यैरुक्तं राक्षसास्ते भवन्तुवः।
यक्षाम इति यैरुक्तं यक्षाएवभवन्तुवः ॥१३॥
(उत्तरकाण्ड सर्ग ४)

२. अमूरा विश्वा वृषणाविमा वां न यासु चित्रं ददृशे न यक्षम्।
द्रुहः सचन्ते अनृता जनानां न वां निण्यान्यचिते, प्रभूवन् ॥
(ऋक् ७।६१।५)

३. मा कस्याद्भुतक्रतू यक्षं भुजमातनूभिः माशेषसामातनसा ॥
(ऋक् ५।७०।४)

अद्भुत शक्ति है, तो यक्ष से हमें क्या प्रयोजन; वह हमारे समीप क्यों आने लगा। इन दोनों मन्त्रों में यक्ष के अद्भुत रूप को स्वीकार करते हुए वैदिक देव मित्र और वरुण को उससे विशिष्ट माना गया है।

पहले मन्त्र की व्यञ्जना यह है कि जिनकी बुद्धि अविकसित है, या जाग्रत नहीं हुई है (अमूराः), उन्हीं को यक्ष जैसे अद्भुत या आश्चर्य मय देवों में विश्वास होता था। एक अन्य मन्त्र की ध्वनि यह है कि यदि कोई पड़ोसी या हमारा सम्बन्धी यक्ष सदन (स्थान) में जाता है, तो हे अग्नि तुम कहीं उसके यहाँ छिपकर मत जाना[1]। पड़ोसी से तात्पर्य अनार्य जाति से है, जो यक्षों को मानते थे, अथवा कोई पथभ्रष्ट आर्य भी यक्ष की मान्यता पूजा करने लगे तो आर्यों के देवता अग्नि का उसके साथ भूलकर भी मेलजोल न होना चाहिए। यहाँ यक्ष के सद या स्थान का उल्लेख ध्यान देने योग्य है, जहाँ जाने से सावधान किया गया है। एक मन्त्र में वैश्वानर अग्नि को ऐसा बृहत् और शक्तिशाली कहा गया है कि लोग उसे यक्ष का भी अध्यक्ष मानने लगे थे[2]। इन चारों मन्त्रों में यक्ष देवता का उल्लेख करते हुए उससे बचने या अलग रहने या उसके आर्य देवों से निकृष्ट होने का भाव पाया जाता है। किन्तु ऋग्वेद में ही यक्ष के सुन्दर रूप का भी उल्लेख है—जो मरुत्‌देव अश्वों के समान वेग से गमन करते हैं, वे यक्ष सदृश सुन्दर युवकों के समान सुशोभित हैं—[3] यक्ष के समान सुन्दर लगनेवाले (यक्षदृशः) यह कल्पना बाद के साहित्य में भी बहुत बार पाई जाती है। गृह्यसूत्रों में कहा गया है कि वैदिक चरण में नवप्रवेश करता हुआ ब्रह्मचारी अपने आचार्य और उसकी विद्वत्‌परिषत् का दर्शन करे और इस प्रकार की भावना करे कि मैं भी परिषत् की दृष्टि में यक्ष के समान प्रिय बनूँ। (यक्षमिव चक्षुषः प्रियो भूयासम्)

किसी भी अपरिचित सुन्दर स्त्री से मिलकर उसका परिचय पूछने के लिये कहा जाता था—क्या तुम कोई यक्षी हो (न देवेषु न यक्षेषु तादृग्रूपवती क्वचित्, मानुषेष्वपि चान्येषु दृष्टपूर्वा न च श्रुता—आरण्यकपर्व ५०।१३; ६१।११४)। स्वयंवर में नल को देखकर स्त्रियाँ सोचने लगीं—इसकी रूप और कान्ति कितनी

---

१. माकस्य यक्षं सदमिद्धुरो गा मा वेशस्य प्रमिनतो मापेः।
(ऋक् ४।३।१३)

२. यक्षस्याध्यक्षं तविषं बृहन्तं (ऋक् १०।८८।१३)

३. अत्यासो न ये मरुतः स्वञ्चो यक्षदृशो न शुभयन्त मर्याः।
(ऋक् ७।५६।१६)

सुन्दर है ? क्या यह कोई देव है, यक्ष है, या गन्धर्व है (अहो रूपमहोकान्तिरहो धैर्यं महात्मनः, कोऽयं देवो नु यक्षो नु गन्धर्वो नु भविष्यति—३।५२।१६ आरण्यक पर्व)[1] बुद्ध या महावीर को भी कई बार लोग यक्ष समझ लेते थे।

ऊपर ऋग्वेद में अद्भुत और चित्र इन शब्दो की ध्वनि यक्ष के लिये कही गई है। यजुर्वेद में मन को अपूर्व यक्ष कहा गया है (३४।२)। अद्भुत, अपूर्व चित्र इनका अर्थ एक ही है। महद्भूत आश्चर्य यह यक्ष की सर्वसम्मत कल्पना थी (आदिपर्व २१।१२) जहाँ यक्ष का यह विशेषण और राजा शब्द भी इन्द्र के लिये प्रयुक्त हुआ। महत् विशेषण भी यक्ष के लिये प्रयुक्त होने लगा था। अथर्ववेद में कहा है कि भवन के बीच में कोई महत् यक्ष भरा हुआ है, उसे सभी राष्ट्रधर वलि देते हैं (महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै वलि राष्ट्र भृतो भरन्ति—अथर्व १०।८।१५)। अथर्व में महद्ब्रह्म महद्यक्ष के लिये ही आया है (१।३२।१४)। रामायण में हनूमान् के महान् बल को देखकर राक्षस उन्हें महद्भूत समझने लगे (सर्वथा तं महद्भूतं कहावलपरिग्रहम्, सुन्दरकाण्ड ४६।६)। दीर्घनिकाय में आदित्य उपस्थान के साथ महत् नामक देवता के उपस्थान का भी उल्लेख है (आदिच्चु पट्ठानं महदुपट्ठानं अभ्युज्जलनं सिरिमायनं इति एवरूपाय तिरच्छान विज्जाय मिच्छाजीवा पटिविरतो समणो गोतमो ति, ब्रह्मजाल सुत्त, भागवत कृत देवनागरी संस्करण, पृ० १३)। बुद्ध ने महदुपट्ठान या यक्षपूजा को तिरच्छान विज्जा और मिच्छाजीवा कहा है, जो जनसाधारण (पुथुज्जन = पृथक्जन) में फैली हुई थी। बुद्ध ने सावधान करते हुए कहा था कि समस्त जनसाधारण यह जान लें कि गौतम आदित्यपूजा, यक्षपूजा, सिरिदेवता का आवाहन, जंगल में जलते हुए भारी प्रकाश में विश्वास—इस प्रकार की ऊलजलूल बातों से ऊपर उठ चुके हैं। अथर्ववेद में भी वैश्रवण कुबेर और उसके पुत्र कावेरक को इतरजन कहा गया है (अथर्व ८।१०।५ = ९–११)।

यक्षों की एक संज्ञा राजा भी है। इस शब्द का प्रसिद्ध प्रयोग कालिदास ने मेघदूत में किया है, जहाँ कुबेर को राजराज अर्थात् राजा संज्ञक यक्षों का राजा कहा गया है (अन्तर्वाष्पश्चरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ—मेघदूत १।३)।

महाराज का शब्दार्थ है—बड़ा यक्ष, और यह भी कुबेर के लिये प्रयुक्त होता है। कुबेर के लिये दी जानेवाली बलि को महाराज बलि कहते थे। पाणिनि के

---

१. गोभिलगृह्यसूत्र (३।४।२८) यक्षमिव चक्षुषा प्रियो वा भूयासम् इति (मन्त्रबा० १।७।१४) सपरिषत्क्रमाचार्यमभ्येत्य ब्रह्मचारी पठति। द्राह्यायण गृह्यसूत्र (३।१।२९) में भी ऐसा ही उल्लेख है—उपेत्याचार्यं परिषदं प्रक्षेद् यक्षमिव प्रियो भूयासम्।

अनुसार महाराज एक देवता था[1] (४।२।३५) और महाराज देवता की भक्ति करनेवाले भक्त 'महाराजिक' कहलाते थे (४।३।९७)। पाली साहित्य में चार दिशाओं के रक्षक चार लोकपाल, चार महाराज (चत्तारो महाराजानो) कहलाते थे। इनमें से धृतराष्ट्र नामक देवता गन्धर्वों का अधिपति पूर्वी दिशा का स्वामी माना जाता था; विरूढक कुंभाण्डों का अधिपति दक्षिण दिशा का; विरूपाक्ष नागों का अधिपति पश्चिम दिशा का; और वैश्रवण यक्षों का अधिपति उत्तर दिशा का स्वामी समझा जाता था। वस्तुतः ये चारों महाराज यक्ष रूप में ही पूजे जाते थे। भरहुत की वेदिका पर इन्हें यक्ष ही कहा गया है।

यक्ष का सबसे महत्त्वपूर्ण पर्याय ब्रह्म था। महाभारत में यक्षमह के लिये ही ब्रह्ममह शब्द आया है। बक नामक राक्षस की मृत्यु के बाद ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब ने मिलकर एकचक्रा नगरी में ब्रह्ममह का आयोजन किया (ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे क्षत्रियाश्च सुविस्मिताः, वैश्याः शूद्राश्च मुदिताश्चक्रुर्ब्रह्ममहं तदा—आदि पर्व १५२।१८)। मत्स्यदेश में ब्रह्म का एक बड़ा भारी महोत्सव हुआ करता था, जिसमें उस जनपद के सब लोग तमाशा देखने एकत्र होते थे और उस अवसर पर बड़े बड़े मल्लों की कुश्तियाँ होती थीं। राजा विराट स्वयं इस उत्सव का प्रबन्ध करते थे[1]। यह ब्रह्ममहोत्सव 'यक्षमह' या यक्ष का ही उत्सव था। लोक में आज तक यक्ष के लिये बरह्म शब्द प्रचलित है और यक्षपूजा को बीर बरह्म पूजा कहा जाता है। काशी जनपद में हरिकेश यक्ष का बड़ा स्थान आजतक हरसूब्रह्म के नाम से प्रसिद्ध है। इसका विवेचन आगे बीरबरह्म शीर्षक परिशिष्ट में किया जायगा।

अथर्ववेद में अमृत से घिरी हुई ब्रह्मपुरी और उसमें रहनेवाले वपुष्मान् महाकाय यक्ष (आत्मन्वदयक्ष) का उल्लेख है। उस सूक्त में यद्यपि मनुष्य शरीर का आध्यात्मिक वर्णन है, किन्तु उस वर्णन के प्रतीक प्राचीन यक्षपूजा से ही लिए गए हैं। यक्षों के निवासस्थान को ब्रह्मपुर कहा गया है। ब्रह्म यक्ष का ही प्राचीन पर्याय था। इस पुरी की विशेषता यह थी कि इसमें अमृत का निवास माना जाता था। यक्षों का सम्बन्ध अमृत से माना गया है, अतएव इस ब्रह्मपुरी को अपराजिता भी कहा गया है। कहा गया है कि इस पुरी में हिरण्य का कोश

---

१. अथ मासे चतुर्थे तु ब्रह्मण महोत्सवः।
आसीत् समृद्धो मत्स्येषु पुरुषाणां सुसम्मतः॥
(विराट् १२।१२)

इसी श्लोक के आगे प्रक्षिप्त अंश में इस महोत्सव को ब्रह्म का समाज भी कहा गया है (समाजे ब्राह्मणो राजस्तथा पशुपतेरपि)

था। कुबेर के स्थान में सुवर्ण का अक्षय कोश माना ही जाता था। इस ब्रह्मपुरी में बड़े शरीरवाला यक्ष निवास करता था। ये सब प्रतीक यक्षपूजा के थे।[1]

अवध्यब्रह्मपुर

अमृत से घिरी हुई अपराजिता ब्रह्मपुरी के प्रतीकों का विचार करते हुए हमारा ध्यान महाभारत के एक श्लोक की ओर जाता है, जिसमें इन्हीं पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करके यक्षपूजा का चित्र खड़ा किया गया है। उसके धुँधले अर्थों के विषय में टीकाकार प्रायः मौन हैं—

आत्मना सप्तमं कामं हत्वा शत्रुमिवोत्तमम्।
प्राप्यावध्यं ब्रह्मपुरं राजेव स्यामहं सुखी

(मोक्षधर्म १७१।५२)

निर्वेद या तृष्णा क्षय से जो सुख प्राप्त होता है, वही अमरत्व है। नियतिवादियों के इस दार्शनिक दृष्टिकोण का विवेचन करते हुए कहा है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहंकार इन छह शत्रुओं को और शरीर इन सातों को वश में करके व्यक्ति ऐसा सुखी होता है, जैसे यक्ष अपने अवध्य ब्रह्मपुर में निवास करता हुआ सुखी होता है।

यहाँ राजा शब्द का अर्थ स्पष्ट ही यक्ष है। अथर्ववेद में जिसे आत्मन्वत् यक्ष कहा है, वही यहाँ अभिप्रेत है। आत्मा का अर्थ दोनों जगह भूतात्मा या शरीर है। महाकाय या बड़ा शरीर यक्ष की विशेषता थी। महाभारत के यक्ष-युधिष्ठिर संवाद में यक्ष को महाकाय, ताड़ वृक्ष के समान ऊँचा (तालसमुच्छ्रित) पर्वतोपम, महाबली, अधृष्य (जिसे मृत्यु न दबा सके), तथा अग्नि और सूर्य

---

१. यो वै तां ब्रह्मणो वेद वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजा ददुः॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥
अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥
तस्मिन् हिरण्ययेकोशेत्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्ममात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदोविदुः॥
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा स परिवृताम्।
पुरं हिरण्ययी ब्रह्माविवेशापराजिताम्॥

—अथर्व १०।२।२९-३३

के समान चमकता हुआ कहा गया है (ज्वलनार्कप्रतीकाश)[1]। इन विशेषणों को हम शुंग और कुषाणकाल की बड़ी बड़ी कद्दावर यक्षप्रतिमाओं में चरितार्थ हुआ देखते हैं। अवध्य, अपराजित, अधृष्य—ये सब यक्षों के उस गुण की ओर संकेत करते है, जिसके अनुसार लोक में ऐसा समझा जाता था कि यक्ष के पास अमृत है और वह अपने भक्तों को उसे प्रदान करता है। इसीलिए अथर्ववेद में यक्षपुर या ब्रह्मपुर को अमृत से आवृत कहा गया है। यक्षों की मान्यता और उनके विषय में जनविश्वास के रहस्य का बहुत बड़ा कारण यही था कि लोगों ने यक्षों का सम्बन्ध अमृत से मान लिया था। रामायण में यक्षत्व और अमरत्व को पर्यायवाची माना है। महाभारत के अनुसार पितामह ब्रह्मा ने वैश्रवण कुबेर को अमरत्व, धन का आधिपत्य और लोकपालत्व—ये तीन वरदान दिए।[2] अमरत्व का कारण वह अमृत था, जो एक घर में कुबेर के यहाँ सुरक्षित था। महाभारत में इस विशिष्ट अमृत के विषय में कहा है—यह एक प्रकार का पीला मधु है, जिसे मक्खियाँ नहीं बनातीं (मधु पीतममाक्षिकम्), वह घड़े में बन्द है (कुम्भ-संमितम्), सर्प उसकी रक्षा करते हैं। कुबेर को वह अत्यन्त प्रिय है। जंभ साधने वाले पुजारी कहते हैं कि उस मधु को खाकर मर्त्य पुरुष अमर हो जाता है, बूढा जवान हो जाता है और अन्धे को नेत्र मिल जाते हैं।[3] जंभ यक्ष या तत् सदृश कोई क्षुद्र देवता ज्ञात होता है। जंभ की साधना करने वाले विशेष पुजारी लोगों को इस विशिष्ट अमृत की प्राप्ति का प्रलोभन देते थे। कुबेर को

---

१. विरूपाक्षं महाकायं रक्षं ताल समुच्छ्रयम्
ज्वलनार्क प्रतीकाशमधृष्यं पर्वतोपमम्।
सेतुमाश्रित्यतिष्ठन्तं ददर्शभरतर्षभ
मेघगंभीरया वाचा तर्जयन्तं महाबलम्
(अरण्यक पर्व २९७।२०।२१)

२. पितामहस्तु प्रीतात्मा ददौ वैश्रवणस्य हे।
अमरत्वं धनेशत्वं लोकपालत्वमेव च ॥
(अरण्यकपर्व २९८।१९)

३. तत्र पश्यामहे सर्वे मधु पीतममाक्षिकम्।
मरुप्रपाते विषमे निविष्टं कुम्भसंमितम् ॥
आशीविषैःरक्ष्यमाणं कुवेरदयितं भृशम्।
यत् प्राश्य पुरुषो मर्त्यो अमरत्वं निगच्छति ॥
अचक्षुर्लभते चक्षुर्वृद्धो भवति वै युवा।
इति ते कथयन्ति स्म ब्राह्मणा जम्भ साधकाः ॥
(उद्योग ६२।२३–२९)

बौद्ध साहित्य में जंभल देवता सम्भवतः इसी परम्परा से कहा गया। जंभकों की यह विद्या उनका अपना रहस्यज्ञान था। इस प्रकार अमृत पाने की चाह यक्ष पूजा के मूल में प्रबल आकर्षण थी। उसने लोकधर्म का पालन करने वाली जनता के मन को दूर तक प्रभावित किया। यक्षों की मूर्तियों में उनके बाएँ हाथ में जो अमृत घट दिखाया जाता है, उसका हेतु भी यही है।

अमृत के कारण यक्षों का स्थान अवध्य या अपराजित कहलाया। अर्थात् वहाँ मृत्यु के आक्रमण का भय नहीं था। आगे चलकर जब यक्षों की धर्म-रूढियाँ अन्य देवताओं के लिए गृहीत हुईं, तो यक्षपूजा के ढंग पर विष्णु पूजा का विकास हुआ। जैसे यक्षों का पुर या बाड़ा होता था, वैसे ही विष्णु और शिव के लिए भी वेदिका परिवेष्टित स्थान बनाए जाने लगे। प्राचीन मध्यमिका की नारायणवाटिका के जिस लेख की ओर पहले संकेत किया जा चुका है, उसमें संकर्षण और वासुदेव को 'अनिहताभ्याम् सर्वेश्वराभ्याम्' कहा गया है। सर्वेश्वर शब्द की व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। अनिहत शब्द का सामंजस्य अवध्य, अपराजित आदि शब्दों से समझा जा सकता है। जो भाव अवध्य का है, वही अनिहत का है। विष्णु के लिए यक्ष शब्दावली का ऐसा सटीक प्रयोग किया जा रहा था, कि उस छोटे से लेख में उनके लिए अनिहत शब्द का प्रयोग आवश्यक समझा गया। कौटिलीय अर्थशास्त्र में देवताओं का परिगणन करते हुए विष्णु को अप्रतिहत कहा गया है, उसका भी कारण यही है। यक्षों की ब्रह्मपुरी में सुवर्ण के कोश का भी उल्लेख आया है। उत्तर दिशा के स्वामी कुबेर धनपति प्रसिद्ध हैं। उसी ओर सुवर्ण का पर्वत मेरु है, और हाटक देश भी उसी ओर है। जाम्बूनद स्वर्ण, पैपीलिक स्वर्ण और अष्टापद स्वर्ण—ये सब उत्तरी दिशा में ही उत्पन्न होते थे। आगे चलकर कुबेर शंख, पद्म आदि निधियों का निधिपति समझा जाने लगा। कुषाणकाल की मूर्तियों में लक्ष्मी, कुबेर की स्त्री के रूप में अंकित की गई है। रामायण में धन के संचय के लिए 'कुबेर भवनोपमम्' कहा गया है। यह धन सुवर्ण ही था। वस्तुतः जिसे मधु या सोम या अमृत कहा जाता था, और जो कुबेर का अत्यन्त प्रिय घड़े में भरा हुआ कोश था, उसी का पर्याय सुवर्ण समझा गया। अमृत या सोम और मधु का जो गुण था, अर्थात् मर्त्य को अमर बनाना, उन्हीं गुणों की कल्पना दिव्य-मणि के संबन्ध में भी की गई। यह दिव्य मणि युधिष्ठिर के कोश में थी—ऐसा महाभारत में आया है। जातकों में भी उसके विचित्र गुणों का उल्लेख है। अथर्ववेद में सहस्रवीर्यमणि की महिमा का बहुत वर्णन आता है (मणि सहस्रवीर्यं वर्मदेवा अकृण्वत, ८।५।१४)। ज्ञात होता है कि मणिभद्र यक्ष जिसे यक्षों का राजा कहा गया है—इसी भद्रमणि का स्वामी था।

बौद्धधर्म में यक्ष पूजा

जिस समय बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार किया उस समय साधारण जनता में यक्ष पूजा का बहुत बड़ा स्थान था। बौद्ध धर्म स्वीकृत कर लेने पर भी गृहस्थों में और साधारण लोगों में यक्षों और यक्षिणियों की मान्यता उसी प्रकार चलती रही। बौद्ध साहित्य में, विशेष रूप से जातकों के कथा-साहित्य में यक्ष-पूजा के अनेक उल्लेख आते है। यक्षों को प्रायः महिद्धिक अर्थात् बहुत ऋद्धि और प्रभाव रखने वाले देवता कहा गया है। अच्छे और बुरे, दोनों प्रकार के यक्ष होते थे। आटा नाटीय सुत्त, जो दीघनिकाय का अंग है, यक्षों के विषय में मूल्यवान् जानकारी प्रदान करता है। यक्षों के राजा वेस्सवण स्वयं बुद्ध से कहते हैं कि प्रायः यक्ष बुद्ध और उनके धर्म को नहीं मानते। बुद्ध के उपदेश लोगों को अनेक प्रकार के पापों से बचने का आग्रह करते हैं, अतएव यक्षों को वे प्रिय नहीं हैं। कुछ यक्ष बुद्ध के शिष्यों को और भिक्षुओं को तंग करते है, लेकिन जो महायक्ख हैं, वे धर्म में सहायक होते हैं और दुष्टात्मा यक्षों पर अंकुश रखते हैं। वैश्रवण द्वारा बताई हुई यक्ष सूची में इन्द्र, सोम, वरुण, प्रजापति, मणिभद्द, आड़वक आदि हैं। वैश्रवण ने उस प्रतिरक्षा मन्त्र का भी संकेत किया है, जिसके जप करने से बुरे यक्षों के प्रभाव से लोग बच सकते हैं।

एक दूसरा बौद्धग्रन्थ महामायुरी नाम से है, जिसकी रचना लगभग तीसरी शती ईस्वी में हुई। इसमें प्रत्येक स्थान में जिन यक्षों की पूजा होती थी, उनकी लम्बी सूची एकत्र की गई है। इसके अनुसार कुछ यक्षों के नाम ये थे – राजगृह में वज्रपाणि और बकुल, कपिलवस्तु में काल और उपकालक, विराट में महेश्वर, श्रावस्ती में बृहस्पति, साकेत में सागर, वैशाली में वज्रायु, चम्पा में सुदर्शन, वाराणसी में महाकाल, द्वारका में विष्णु, ताम्रपर्णी में विभीषण, उरगा (पाण्ड्य देश की राजधानी उरगपुर) में मर्दन, बहुधान्यक (रोहितक की राजधानी) में कपिल, उज्जयिनी में वसुत्रात, अवन्ति में वसुभूति, भरुकच्छ में भरुक् , अग्रोदक (अग्रोहा, पूर्वी पंजाब) में माल्यधर, सुवास्तु (स्वात) में शुक्लदंष्ट्र, गिरिनगर में महागिरि, विदिशा में वासव, रोहितक में कुमार कार्त्तिकेय, कलिंग में बृहद्रथ, स्रुघ्न में दुर्योधन, अर्जुनावन (अर्जुनायन) में अर्जुन, मालवा में गिरिकूट, शाकल में सर्वभद्र, वणु (बन्नू) में कपिल, गन्धार में प्रमर्दन, तक्षशिला में प्रभंजन, भद्रशैल में खरपोस्ता, रौरुक (सौवीर की राजधानी) में प्रभंकर, लम्पाक में कलहप्रिय, मथुरा में गर्दभक, पाण्ड्यमथुरा (दक्षिणभारत, मदुरा) में विजय और वैजयन्त, मलय में पूर्णक, केरल में किन्नर, नासिक में सुन्दर, वनवासी (दक्षिण कनाड़ा) में पालक, अहिच्छत्रा में रतिक, काम्पिल्य में कपिल, पांचाल में नैगमेश, हस्तिनापुर

में प्रसव, श्रौधेयों में पुरंजय, कुरुक्षेत्र में तरार्क श्रौर कुतरार्क, (महाभारत के तरन्तुक—श्ररन्तुक) एवं उलूखलमेखला नामकी यक्षी, कोटिवर्ष (बंगाल) में महासेन, कौशाम्बी में श्रनायास, चम्पा में पुष्पदन्त, पाटलिपुत्र में भूतमुख, काशी में श्रशोक, मरुभूमि में जम्भक, दरद्देश में देवशर्मा, काश्मीर में प्रभंकर, काश्मीर के सीमाप्रदेश में पांचिक श्रौर उसके ५०० पुत्र, चीनभूमि में पांचिक का ज्येष्ठ पुत्र, कापिथी (श्रफगानिस्तान में बेग्राम) में लंकेश्वर, रूस देश में धर्मपाल, बाह्लीक (बल्ख) में महाभुज, तुषार देश में वैष्णव का पुत्र युवराज जिनर्षभ, सिन्धुसागर में सातगिरि श्रौर हैमवन्त, द्रविड़ देश में पंचालगंड, सिंहल में धनेश्वर, पारत देश में पाराशर, शकस्थान में शंकर, पह्लव देश में वेमचित्र, उड्डियान देश में कराल, गोपकाण (वखान) में चित्रसेन, रमठ (हींग का प्रदेश, जागुड या गजनी) में रावण ।[1] इस लम्बी सूची से दो बातें ज्ञात होती हैं । एक तो श्रफगानिस्तान श्रौर ईरान से लेकर सिंहल तक जो कनिष्क श्रादि कुषाण सम्राटों के समय में बौद्धधर्म का व्यापक क्षितिज था, उसमें सर्वत्र यक्षपूजा प्रचलित थी, ऐसी निर्विवाद मान्यता जनता में थी । दूसरे यक्षों के जो नाम दिए गए हैं, जैसे दुर्योधन, श्रर्जुन, विष्णु, नैगमेश, शंकर, इन्द्र, बृहस्पति, महाकाल श्रादि—वे कई धर्मों की मिली हुई परम्पराश्रों को लिए हुए हैं । वस्तुतः यक्षपूजा में जैन, बौद्ध, ब्राह्मण ये सब धाराएँ जी खोल कर मिलती थीं, क्योंकि लोक के धरातल पर धार्मिक भेदभाव उभर कर सामने न श्राते थे, बल्कि धार्मिक विश्वासों का एक सामान्य ताना-बाना घर-घर में पिरा हुश्रा था । इस सूची में कितने नाम वास्तविक थे, यह कहना कठिन है, किन्तु जैसे कुरुक्षेत्र के तरार्क कुतरार्क श्रौर उलूखल मेखला सचमुच स्थानीय यक्ष थे, यह महाभारत से विदित होता है ।

बौद्ध-साहित्य में चार महाराज या बड़े यक्षों की पूजा का प्रायः उल्लेख श्राता है । इन्हें एक साथ 'चातू महाराजिक देवा' कहते थे । इन चार बड़े देवताश्रों का सम्बन्ध चार दिशाश्रों से माना जाता था । उत्तर में वैश्रवण, पूर्व में धृतराष्ट्र, दक्षिण में विरूढक श्रौर पश्चिम में विरूपाक्ष । इनमें कुबेर यक्षों का श्रधिपति माना जाता था । उसे वैश्रवण, पाञ्चिक श्रौर जम्भल भी कहते थे । कुबेर की राजधानी श्रलकापुरी कैलाश के पास प्रसिद्ध थी । कुबेर के लोक में रहनेवाले उसके श्रनुयायी वैश्रवण कायिक देव कहलाते थे । कुबेर की नगरी का वैभव श्रनेक प्रकार से कहा गया है । उसका वन चैत्ररथ कहलाता था । उसी का नाम कालिदास ने वैभ्राज लिखा है । धन के देवता होने के कारण कुबेर की पूजा का लोकव्यापी प्रचार

---

१. देखिए मेरा लेख—महामायूरी की भौगोलिक सामग्री, उत्तरप्रदेश इतिहास परिषद् की पत्रिका, जिल्द १७, भाग २, पृ० २७–२९ ।

था। उसकी अनेक मूर्त्तियाँ मिली हैं। इनमें कुबेर की आकृति पगड़ी बाँधे हुए तुंदिल सेठ जी के समान है।

कुबेर के एक नाम पाञ्चिक का महायान बौद्धधर्म में बहुत प्रचार हुआ। गंधार देश में पाञ्चिक और उसकी पत्नी हारीती की पूजा प्रचलित थी और मध्य एशिया तक इनकी मान्यता फैली हुई थी। हारीती के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह पाँच सौ यक्षों की माता थी।[1] उसका मूल स्थान राजगृह में था। महाभारत के वनपर्व में राजगृह की यक्षी का उल्लेख है जिसकी कीर्ति बहुत दूर तक फैली हुई थी (३।८२।९०)। वस्तुतः इस यक्षी का मूल नाम जरा था। सभापर्व में उसे 'मांसशोणितभोजना' कहा है (१६।३८), अर्थात् उसकी पूजा में मांस की बलि चढ़ाई जाती थी। वह राक्षसी के रूप में प्रसिद्ध थी। उसीने जरासंध के शरीर के दो टुकड़ों को जोड़कर उसे जीवित किया था। इससे प्रसन्न होकर जरासंध के पिता बृहद्रथ ने आदेश दिया था कि मगध के निवासी घर-घर में उसकी पूजा करें और उसके सम्मान में प्रति वर्ष एक महोत्सव मनाया करें (आज्ञापयच्च राक्षस्या मागधषु महोत्सवम्, सभा० १७।५)। यह भी उल्लेख है कि राजगृह के लोग गृहदेवी के रूप में उसकी पूजा घर-घर में करते थे और दीवारों पर उसका चित्र भी बनाते थे जिसमें वह बहुत से पुत्रों से घिरी हुई दिखाई जाती थी।[1] बौद्धधर्म में यही देवी हारीती के नाम से प्रसिद्ध हुई। कहा जाता है कि वह बच्चों का हरण कर लिया करती थी? जरासंध का भी उसने हरण कर लिया था और पीछे उसे लौटा दिया था। बच्चों का हरण करने के कारण उसकी संज्ञा जातहारिणी या हारीती प्रसिद्ध हुई। जिस समय बुद्ध राजगृह में आए, लोगों ने उनसे इसके त्रास का वर्णन किया। तब बुद्ध ने इसके एक पुत्र को छिपा दिया जिससे यह व्याकुल हो गई और इसके हृदय में मातृस्नेह उमड़ आया। अनुकूल अवसर जानकर बुद्ध ने इसे उपदेश दिया और उस दिन से यह बच्चों की रक्षा करने वाली देवी बन गई। कुषाणयुग में मथुरा भी इसकी पूजा का

---

१. पण्डको नाम यक्खो तु सद्धिं हारितयक्खिया।
पञ्चसतेहि पुत्तेहि फलं पापुणि आदिकम् ॥
—महावंश १२।२१

गृहे गृहे मनुष्याणां नित्यं तिष्ठति राक्षसी।
गृहदेवीति नाम्ना वै पुरा सृष्टा स्वयंभुवा ॥
लिखिता चैव कुड्येषु पुत्रैर्बहुभिरावृता।
गंधपुष्पैस्तथा धूपैर्भक्ष्यैर्भोज्यैः सुपूजिता ॥
—सभापर्व पूना संस्करण पृ० ९४

एक केन्द्र था और उसके बाद तो हारीती की पूजा गंधार प्रदेश में फैलती हुई मध्य एशिया तक छा गई।

बौद्ध कथानक के अनुसार हारीती चेचक के द्वारा बच्चों का हरण करती थी। इससे इस कहानी का तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है। बच्चों को प्रायः यह रोग होता है और बालक जरासंध को भी यह हुआ होगा। आज भी शीतला माता के रूप में इसकी पूजा होती है। बौद्ध साहित्य में जैसा कुमारस्वामी ने लिखा है इसका एक नाम 'नन्दा' भी था। लोक में आज भी इसे 'हँसनो-खेलनी' माता कहते हैं।[1]

यक्षों के स्थान या यक्षभवन प्रायः चैत्य या आयतन कहलाते थे। लोक-भाषा में आज भी इन्हें स्थान या भौन कहते हैं। आरंभ में इन चैत्यों का स्वरूप सीधासाधा था। मिट्टी, ईंट या पत्थर का चबूतरा यक्ष पूजा के लिए पर्याप्त समझा जाता था। उस पर पूजाशिला या आयागपट्ट या यक्ष की तिकोनी पिण्डी की स्थापना की जाती थी। यक्षपूजा का दूसरा प्रकार मूर्तियों के रूप में भी था। ये मूर्तियाँ महाकाय या आकार में बहुत बड़ी होती थीं। आठ फुट से १२ फुट तक की ऊँची पत्थर की मूर्तियाँ पायी गई हैं। वे खुले आकाश के नीचे पधरा कर पूजी जाती थीं। इस प्रकार की कितनी ही मूर्तियाँ भारतीय शिल्प में प्राप्त हो चुकी हैं। उनकी प्राचीनता चौथी शती ई० पू० तक जाती है। भारतीय प्रतिमाओं में यक्षमूर्तियाँ सबसे प्राचीन हैं। सिर पर पगड़ी, कानों में भारी कुण्डल, गले में चपटा कण्ठा या ग्रैवेयक आभूषण, छाती पर तिकोना हार, भुजाओं में अंगद और हाथों में कटक पहने हुए, ऊपर उत्तरीय और नीचे धोती कसे हुए सीधी खड़ी हुई मुद्रा में दो हाथ, जिनमें से दाहिना ऊपर उठा हुआ, बायाँ कटिविन्यस्त या झूलता हुआ—यही इन मूर्तियों का ठाट है। इन्हीं की अनुकृति कालान्तर की बोधिसत्त्व और विष्णु मूर्तियों में पायी जाती है। इन सब में मथुरा के परखम गाँव से प्राप्त यक्ष मूर्ति सबसे प्रसिद्ध और टकसाली है। उसकी चौकी पर खुदे हुए लेख से अनुमान होता है कि वह माणिभद्र यक्ष की प्रतिमा है। माणिभद्र यक्ष का महत्त्व कुबेर से दूसरे स्थान पर था और ये सार्थवाहों के रक्षक-देवता माने जाते थे। ग्वालियर के पास पद्मावती में माणिभद्र की पूजा का बड़ा केन्द्र था। अन्य मूर्तियों में मथुरा के बड़ोदा गाँव से प्राप्त एक दूसरी कद्दावर मूर्ति है। "झींग का नगरा" नामक गाँव में कायपरिमाण यक्षी की बैठी हुई मूर्ति अभी तक पूजी जाती है। इसी प्रकार भरतपुर से चार मील पर नोह गाँव में परखम यक्ष जैसी एक बड़ी मूर्ति है जिसे

१. जो माता बच्चे को विना ज्वर चढ़े निकलती है उसके लिए यह नाम है।

अभी तक 'जाख' कह कर पूजते हैं। पद्मावती या पवाया से एक यक्षी की मूर्ति भी मिली है। पाटलिपुत्र से दो बड़ी मूर्तियाँ प्राप्त हुई है, जिन पर अशोक-कालीन ओप या चमक है, वे भी यक्ष मूर्तियाँ ही हैं, ऐसा अनुमान किया जाता है। काशी के पास राजघाट से एक त्रिमुही मूर्ति मिली है जो त्रिमुखी यक्ष की समझी जाती है। कुछ वर्ष पूर्व उड़ीसा में प्राचीन राजधानी शिशुपालगढ़ के पास कई बड़ी यक्ष मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं। अभी हाल में प्राचीन विदिशा (आधुनिक भेलसा) में जहाँ वेत्रवती और विदिशा (वेतवाँ और बेस) नदियों का संगम है, ठीक वहीं से १२ फुट ऊँची एक यक्ष मूर्ति प्राप्त हुई है। कुरुक्षेत्र में भी किसी समय यक्ष-पूजा का प्रचार था और उस क्षेत्र के चारों कोनों पर चार यक्षस्थान थे। उनमें तीन के नाम अरंतुक-तरंतुक और मचक्रक थे एवं चौथी यक्षी उलूखल-मेखला कहलाती थी। अभी तक इनमें से किसी की मूर्ति नहीं मिली है। ये नाम महाभारत में हैं। माहामायूरी में इन्हें ही तरार्क-कुतरार्क कहा गया है।

यक्ष-पूजा का बहुत ही पक्का प्रमाण भरहुत के प्राचीन स्तूप से मिले हुए वेदिका-स्तंभों पर उत्कीर्ण यक्षमूर्तियों के रूप में पाया जाता है। इनके नाम ये हैं— सुचिलोम, कुपिर (कुबेर), अजकालक, गंगित, सुपवस, विरूढक एवं सुदसना, चंदा, सिरिमादेवता, चुलकोकादेवता और महाकोकादेवता। पिछले पाँच नाम यक्षियों के हैं। इनमें चुलकोका का अर्थ है छोटी कोका। महाकोका का अर्थ है बड़ी कोका। इस प्रकार के नामों का जोड़ा काशी के बीरों के नामों में मिलता है। जैसे लहुराबीर अर्थात् छोटा बीर और बुल्लाबीर अर्थात् बड़ा बीर (बुल्ला—सं० विपुल)। अशोक के लेखों में आए हुए एक वाक्य में कहा है कि उसने उन देवों को जो पहले मिले हुए नहीं थे मिला दिया (अमिसा देवा मिसा कटा)। इस वाक्य के अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में भारी मतभेद है। हमारी सम्मति में अशोक का तात्पर्य यह है कि लोक पूजा के जो देवता पहले बुद्धधर्म के साथ मिले हुए नहीं थे और जिनकी पूजा-मान्यता अलग चलती थी उन्हें बौद्ध धर्म में स्वीकार कर लिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि बौद्धधर्म के स्तूप में जहाँ एक ओर बुद्ध के जीवन सम्बन्धी नाना दृश्य अंकित किए गए हैं; वहीं यक्ष-यक्षी और नाग-नागी आदि लोक में मान्य छुटभैये देवताओं का भी अंकन पाया जाता है।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यक्षपूजा का भी एक विशेष प्रकार था। इसके अंग ये थे—पुष्प, माल्य, धूप, दीप, गंध, नैवेद्य या प्रसाद और संगीत। शनैः-शनैः ब्राह्मण देवताओं की पूजा के लिए भी यही प्रकार चालू हो गया। गीता में इसे ही 'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्' कहा है। देव पूजा की वैदिक

पद्धति यज्ञ के रूप में थी, किन्तु लोकधर्म की रीति ही अंत में विजय को प्राप्त हुई।

अपने देश में धर्म की ऐसी रीति प्रायः देखी जाती है कि पुराने देवी-देवता भी किसी न किसी रूप में चलते रहते हैं और जनता में उनकी पूजा-मान्यता जारी रहती है। विशेषतः दो चीजों का लोप मुश्किल से ही होता है—एक तो देवता के धार्मिक स्थान का और दूसरे उसके निमित्त जुड़ने वाले मेले का। कालान्तर में चोला बदल जाने पर भी इन दोनों प्रथाओं को हम पहचान सकते हैं। इसी प्रकार यक्ष-पूजा भी लुप्त नहीं हुई। बीरबरह्म पूजा के रूप में आज भी हम उसे चालू देखते हैं। 'काशी विश्वविद्यालय में प्राचीन यक्षपूजा के चार मन्दिर या थान अभी तक हैं जिन्हें बीरों के थान कहते हैं और उन पर आज भी पूजा चढ़ती है। काशी में भी बीरों के कितने ही चौरे या स्थान हैं। बीर और बरह्म दोनों शब्द यक्षों के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। केन उपनिषद् में ब्रह्म यक्ष का रूप धर कर देवों के सामने आता है। अथर्व वेद में ब्रह्म को महद्यक्ष कहा गया है। मध्यकालीन साहित्य में ५२ बीरों के अनेक उल्लेख हैं। इस प्रकार यक्षपूजा का साक्षात् प्रमाण लोक-जीवन में आज भी पाया जाता है। न केवल काशी में बल्कि आस-पास के सभी जिलों में बीर-बरह्म की पूजा चालू है।

१६।४।५२ को सेवापुरी से लौटते हुए श्री हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने बताया कि उनके बलिया जिले के गाँव-गाँव में बरह्म का चौरा पाया जाता है जिस पर मिट्टी का थूहा जैसा बना रहता है। बीर की पूजा भी होती है। वस्तुतः महावीर को दो तरह से पूजते हैं। एक मन्दिर में हनुमान् की मूर्ति के रूप में और दूसरे थूहे या स्तूप के रूप में। यह दूसरी पूजा वीर या यक्ष पूजा ही है। बड़े यक्ष का नाम ही महावीर हुआ। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों में दीवाली के दिन जिसे कामसूत्र में यक्षरात्रि कहा गया है, महावीर का जन्मदिन माना जाता है और प्रत्येक घर में रोट का चूर्मा बनाकर उनकी पूजा की जाती है। यह यक्ष पूजा का ही अवशेष है। पूर्वी जिलों में आज भी यक्ष पूजा में इस प्रकार का प्रसाद बनाया जाता है। हमें विदित है कि यक्षों के नामों से पहले छोटे और बड़े विशेषण जोड़ दिए जाते थे। भरहुत की कला में बहुत से यक्षों के नाम मिले हैं। उनमें एक महाकोका और दूसरी चुल्लकोका देवता है। इन्हें ही छोटी-बड़ी कोका यक्षी समझना चाहिए। काशी में ही एक प्रसिद्ध बीर लहुराबीर है जिसका अर्थ है छोटा बीर। लहुरा नाम से ही ज्ञात होता है कि चुल्लकोका महाकोका के जोड़े की तरह काशी में कोई बड़ा बीर अवश्य था। काशी में बुल्लानाला प्रसिद्ध है। संस्कृत विपुल से बिउल ∠ बुल्ला बना है। विपुलचन्द्र का ही अपभ्रंश रूप बूलचन्द्र है। बुल्लानाला यह नाम बुल्लाबीर के नाम से

पड़ा हुआ ज्ञात होता है। इसी के आस-पास कहीं बुल्ला बोर का थान रहा होगा। काशी में और भी बीरों के कितने ही स्थान हैं जिनमें भेलूपुरा का डोंड़िया बीर प्रसिद्ध है। ये सब प्राचीन यक्ष पूजा के ही अवशिष्ट रूप हैं।

१७।४।५२ को श्री व्यौहार राजेन्द्र सिंह से बीरबरह्म की चर्चा हुई। उन्होंने बताया कि उनके यहाँ मध्य प्रदेश में बरह्मदेव या बरह्म बाबा की पूजा होती है। बरह्म प्रायः करके झाड़ पर रहता है। बीर का भी झाड़ होता है या चबूतरा भी बनाया जाता है। यह वृक्ष प्रायः पीपल का होता है जिस पर बरह्म या ब्रह्म या यक्ष का स्थान होता है। उन्होंने एक विलक्षण बात की ओर ध्यान आकर्षित किया कि गोस्वामी जी ने भी विनय-पत्रिका में महावीर की आराधना के रूपक का वर्णन किया है—

"बीर महा अवराधिए साधे सिधि होय।
सकल काम पूरन करै जानै सब कोय" ॥

बेगि, बिलंब न कीजिये लीजै उपदेस।
बीज मंत्र जपिये सोई जो जपत महेस ॥

प्रेम-बारि तरपन भलो, घृत सहज सनेहु।
संसय-समिध, अगिनि-छमा, ममता-बलि देहु ॥

अघ-उचाटि, मन बस करै, मारै मद मार।
आकरषै सुख - सम्पदा - सन्तोष - बिचार ॥

जिन्ह यहि भाँति भजन कियो, मिले रघुपति ताहि।
तुलसिदास प्रभुपथ चढ्यौ, जौ लेहु निबाहि ॥

बड़े वीर की अराधना करनी चहिए, उसके साधने से सिद्धि मिलती है और सब कामनाएँ पूरी हो जाती हैं। शीघ्र ही उस पूजा का उपदेश लेना चाहिए। उसका बीज मंत्र जैसे शिव जपते हैं, जपना चाहिए। प्रेम के पानी से तर्पण द्वारा, घी से, समिधा से, अग्नि से और बलि कर्म से उसकी पूजा होती है। वह वीर उच्चाटन, वशीकरण और मारण करता है एवं सम्पदा का आकर्षण करता है। जो इस बड़े बीर को इस भाँति पूजता है, वह रघुनाथ जी की प्राप्ति के मार्ग में बढ़ जाता है (विनय पत्रिका १०८)। इस वर्णन में जिन अभिप्रायों का उल्लेख किया गया है अवश्य ही वे लोक-प्रचलित बीर पूजा से ही लिए गये हैं। महावीर की वीररूप में जो पूजा पर्वी जिलो में प्रचलित है, उसका ज्ञान गोस्वामी जी को अवश्य था।

उसी दिन गरौठा से श्रीकृष्णानन्द गुप्त आये। उनसे भी बीरबरह्म पूजा के विषय में चर्चा हुई। उन्होंने पहले तो बताया कि यह पूजा हमारे यहाँ नहीं होती, पुनः बोले कि हाँ हमारे यहाँ बीर की पूजा होती है, बीर का चबूतरा होता है और 'बीर' लोगों के सिर भी आते हैं। बीर-पूजा के लोकगीत भी गाये जाते हैं। सम्भवतः बीर और बरह्म की पूजा भी होती है। श्री परमेश्वरीलाल गुप्त ने बताया कि बीर बरह्म की पूजा आजमगढ़ जिले में भी प्रचलित है। श्री हरिहर प्रसाद गुप्त ने, जिन्होंने लोक-साहित्य पर काम किया है, कहा कि उनके जौनपुर जिले में भी बीर-बरह्म पूजे जाते हैं।

संयोग से २०–४–५२ को भारतीय संस्कृति के अद्भुत विद्वान् श्री सुखलाल संघवी विश्वविद्यालय पधारे। उनसे बीर बरह्म की चर्चा आई। उन्होंने बताया कि जैन मत में भी ५२ बीरों की साधना की जाती है। पुराने ग्रन्थों में जक्ख-चेइय या जक्खायतन का बराबर उल्लेख आता है; वस्तुतः महावीर के ठहरने के सबसे उपयुक्त स्थान जक्खायतन ही थे। बीरों के बहुत से गीत भी बने हुए हैं, जिन्हें गुजरात में शिलोगो (संस्कृत श्लोक) या छन्द कहते हैं। ५२ बीरों के अनेक शिलोगो मिलेंगे, पहले मुझे बीरों के सैकड़ों शिलोगो या छन्द बचपन के सुने हुए याद थे। बीरों के साथ ५६ जोगिनी भी पूजी जाती हैं। ऐसा विश्वास है कि जैन मन्दिर में यक्ष-यक्षिणी की मूर्ति के बिना तीर्थंकर मन्दिर की रक्षा नहीं हो सकती। ऐसी कथाएँ भी आती हैं, कि यक्ष के उपद्रव करने पर उसकी शान्ति कराई गई। भगवान् महावीर का जन्म-जात नाम वर्द्धमान था। जब उनकी प्रसिद्धि हुई और मान्यता बढ़ी तो वे बड़े वीर या महावीर कहलाने लगे। हो सकता है कि महावीर शब्द वीर शब्दावली से लिया गया हो। श्री परमेश्वरीलाल ने कहा कि हमारी बोली में भी लोकोक्ति है कि "ऐसा करूँ तो बावन बीर कहाऊँ"। ज्ञात होता है कि पहले किसी समय ५२ बीरों के प्रमुख स्थानों की गिनती कर ली गई थी जैसी १०८ देवी के पीठों की। 'पृथ्वीराज रासो' में दी हुई ५२ बीरों की सूची में कई नाम ऐसे हैं जो प्राचीन परम्परा से सम्बन्धित जान पड़ते हैं, जैसे मानिक रुद्र, समुद्रतरन, समुद्रशोक, इन्द्रवीर, जमवीर, सहस्रांग, नरसिह, देवाग्नि, क्षेत्रपाल, लोहभञ्जन आदि। इस सूची का मानिक रुद्र अवश्य ही प्राचीन माणिभद्र यक्ष है, जिसकी मान्यता किसी समय मथुरा और प्राचीन पद्मावती (ग्वालियर, पवाया) तक प्रचलित थी। मथुरा में परखम गाँव से माणिभद्र यक्ष की महाकाय मूर्ति मिली है। बंगाल में माणिभद्रवीर, माणिकवीर के रूप में आज भी पूजा जाता है। जिस प्रकार प्राचीनकाल में माणिभद्र सार्थवाहों का देवता था वैसे ही मानिकबीर को मछुए-मल्लाह अपना देवता मानते हैं। महाभारत के वनपर्व में नलोपाख्यान के अन्तर्गत एक बड़े सार्थ

या व्यापारिक काफिले के वेत्रवती नदी पार करने का वर्णन है, वहाँ कहा गया है कि उस सार्थ का ज्येष्ठ सार्थवाह और अन्य व्यापारी माणिभद्र यक्ष के भक्त थे।

आरम्भ में यक्षों के थान और अन्य देवों के थान खुले आकाश के नीचे होते थे। ये खुले थान चारदिवारी से भी घेर दिये जाते थे। इन थानों पर मूर्ति की प्रतिष्ठा नहीं होती थी, किन्तु प्रतीक के रूप में मिट्टी या ईंट का केवल एक थूहा बनाया जाता था। कुछ काल बाद यक्षों की विशालकाय मूर्तियाँ भी बनने लगीं और उसी परम्परा में आगे चलकर विष्णु, शिव और बुद्ध की मूर्तियाँ रची गयीं। फिर भी जो थान की पूजा-विधि थी, वह भी दो सहस्र वर्षों तक चालू रही।

आजकल लोक में पञ्चपीरों की पूजा कहीं-कहीं प्रचलित है। वस्तुतः मुसलमानी प्रभाव से प्राचीन पञ्चवीर शब्द का ही रूप बदलकर पञ्चपीर हो गया। वैश्रवण, माणिभद्र, पूर्णभद्र आदि अनेक यक्ष प्राचीनकाल में प्रसिद्ध थे, उनकी नामावली महाभारत के सभापर्व के अन्तर्गत कुबेर की सभा के वर्णन में और बौद्धग्रन्थ दीघनिकाय के आटानाटीय सुत्तन्त में पाई जाती है। स्वाभाविक है कि उस समय जो बहुत से यक्षों की मान्यता थी, उसमें कुछ प्रधान रूप से उभर आये हों और इसी आधार पर पञ्चवीर रूप से लोक में प्रचलित हुए हों। मथुरा के प्रथम शती पूर्व के एक शिलालेख में "वृष्णीनां पञ्चवीराणां" अर्थात् वृष्णियों के पञ्चवीरों का उल्लेख है। लौक में जो पञ्चवीरों या पाँच यक्षों की पूजा प्रचलित थी, उसी के ढंग पर वृष्णियों के भी पाँच नायक वीरों को चुनकर वृष्णि पञ्चवीर यह संज्ञा दी गयी। दशकुमार चरित में एक स्थान पर पञ्चवीर गोष्ठ का उल्लेख है। टीकाकार के अनुसार देहाती मण्डली या जमावड़े के लिए 'पञ्चवीर गोष्ठं' शब्द प्रचलित था (तत्पञ्चवीर गोष्ठन्तु यत्तु जानपदं सदा)। पञ्चवीर में जो वीर शब्द है वह यक्षवाची है। पाँच यक्षों के थान की संज्ञा पञ्चवीर हुई और वहाँ जो गोठ जमती थी वह पञ्चवीर गोष्ठ कहलाई। वीर = पीर, इस समीकरण को स्वीकार कर लेने से प्राचीन धार्मिक इतिहास के बहुत से भूले हुए सूत्र लगने लगते हैं। श्री पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी और श्री पं० सुखलाल जी संघवी दोनों विद्वानों ने इस पहिचान को स्वीकार किया। द्विवेदी जी के अनुसार चूलिका, पैशाची या पंजाबी में वीर का पीर उच्चारण बहुत सम्भाव्य है। मुसलमान पंजाब की तरफ से आते हुए यह उच्चारण अपने साथ पूर्व की ओर लेते गये। श्री डा० पी० एल० वैद्य से ज्ञात हुआ कि महाराष्ट्र में भी वीर पूजा प्रचलित है। दर्शन के अध्यापक श्री हरिदास भट्टाचार्य ने बताया कि बंगाल में वीर पूजा बहुत अधिक पाई जाती है। मानिक पीर का उल्लेख ऊपर आ चुका है। इसी

प्रकार सत्य पीर की पूजा भी चालू है। हमारे सहयोगी श्री अवधकिशोर नारायण ने बताया कि मगही क्षेत्र (गया जिले) में गाँव-गाँव में बरह्म-थान या चबूतरे होते हैं। आजकल वहाँ पूजा होती है। प्रायः उनके पास एक-एक वृक्ष होता है। गांव में प्रवेश करने के स्थान के पास ही बरह्म देव का स्थान बनाया जाता है। बरह्मदेव के बहुत से पूजा-गीत भी वहाँ पर हैं। बलिया की तरफ बीरों के पूजा-स्थान या बरह्म-थान को केवल 'अस्थान' कहते हैं।

४-५-५२ को प्रातःकाल भ्रमण करते हुए विश्वविद्यालय में ही यक्ष-पूजा सम्बन्धी अनमोल नई जानकारी प्राप्त हुई। मार्ग में एक गाँववाला मिला जो सिर पर साढ़ेसात पसेरी कुम्हड़ों का झौआ उठाये सट्टी जा रहा था। एक जगह बीर का स्थान आया तो मैंने पूछा कि यह क्या है? उसने कहा कि मन्दिर है। मैंने पूछा कि इसके अन्दर क्या है, तो कहा कि डीह है। मैंने कहा—"क्या यह थान है?" उसने कहा—"हाँ, अस्थान है।" पहली बार मन्दिर कहते हुए उसने नई शब्दावली का प्रयोग किया था, पर अब वह अपनी ही शब्दावली पर आ गया था, क्योंकि उसने मुझे भी शुद्ध करके थान न कहकर 'अस्थान' ही कहा। मैंने फिर पूछा—इस डीह का नाम क्या है? अब वह और भी अधिक अपने गाँव की मनोभूमि में आ गया था। मैंने पूछा यही अकेला बीर है या और भी हैं, उसने कहा—बहुत हैं, जैसे कर्मनबीर, कोट माई। मैंने पूछा, कर्मनबीर कहाँ हैं? बोला, वही ऊख के खेत के पास। मैंने इस जगह को सन् १९२५ में विश्वविद्यालय में पढ़ते समय देखा था। जब हम बहुत से छात्र अपना घुमक्कड़ी शिक्षादल बनाकर खेतों में निकल जाते थे, तब मैंने इसे शिव मन्दिर समझकर सन्तोष कर लिया था। उसके बाद पुनः अबकी बार विश्वविद्यालय में लौटकर प्रातःकाल के लम्बे चक्करों में प्रायः अँतरे-खोंतरे उस स्थान के पास से निकलता था, पर उसे शिव का मन्दिर ही समझता रहा। अब जान पड़ा कि यह कर्मनबीर कोई यक्ष देवता हैं जो सम्भवतः हजारों वर्षों से आसन मारे बैठे हैं। लोग आये और गये, आसमान घूमता गया, पर कर्मनबीर टस से मस न हुए, वैसे ही भक्तों का पुजापा लेते रहे। चाहे जितने धर्म सुधार हो जायँ, मार्कण्डेय की तरह उनकी आयु के लिए भविष्य में भी मुझे कुछ खुटका नहीं दीखता। कुम्हड़ेवाला साथ-साथ चला आ रहा था, मैंने पूछा क्या मानिकबीर भी कोई है? उसने कहा कि हाँ, मानिकबीर भी है। जब बहिया या मारी आती है तब उसकी पूजा होती है। यह मानिकबीर किसी समय मुड्ढ देवता था जो यक्षों के प्रधान मणिभद्र यक्ष का बचाखुचा रूप है। ग्वालियर के पास पवाया (पद्मावती) के लेख में मणिभद्र के भक्तों ने कहा है कि वे लोग गर्भसुखित मनोवृत्ति से अपनी गोष्ठी में मणिभद्र की पूजा करते थे। 'अजगर करै न चाकरी पंछी करै न

काम' की फक्कड़ मनोवृत्ति के लिए पाणिनि के 'पात्रे समितादयः' सूत्र में गर्भेतृप्त, गेहेतृप्त आदि फड़कते हुए शब्द आये हैं। इन्हीं का सगोती यह गर्भसुखित शब्द था। माणिभद्र यक्ष के पुजारी इसी मनोवृत्ति के भक्त थे। वस्तुतः प्राचीनतम काल में एक मङ्गलमणि या भद्रमणि की पूजा प्रचलित थी। जिसे महाभारत में युधिष्ठिर के कोष में दिव्यमणि कहा गया है। उस मणि की कृपा से अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती थीं, उनका विस्तृत उल्लेख पूर्णक यक्ष की जातक कहानी में आया है। उसी प्रकार की मंगलप्रदमणि का अधिष्ठातृ देवता माणिभद्र यक्ष प्रतीत होता है। उसके भक्तों में गर्भ-सुखित निश्चिन्त वृत्ति का होना स्वाभाविक था।

लोक-संस्कृति सचमुच जयशालिनी है। उसकी गोद में अमृत है। कोई संस्था, विश्वास या नाम यहाँ मरता हुआ नहीं दीखता। सब लोक की प्राणधारा के प्रवाह में बहते रहते हैं। मैंने उसी व्यक्ति से कहा—भाई! कर्मनबीर तो मैंने देखा है पर कोट माई कहाँ हैं? उसने एक ऊँचे टीले की ओर इशारा करते हुए मार्ग बता दिया और कहा कि ये कोट माई बड़ी ही जगता माई हैं, अर्थात् बहुत चमत्कारयुक्त हैं। सचमुच कोट माई का चमत्कार मेरे ध्यान में आ गया। कोट माई प्राचीन कोट्टवी या कोटवी देवी है, जिसका अम्बिका के रूप में तमिल देश में कभी प्रचार था। कोट्टवै दक्षिण देश की सबसे बड़ी देवी थी। बाण ने हर्षचरित में उसे कोटवी कहा है। ज्ञात होता है दक्षिण की कोट्टवै महानग्नी मातृदेवी थीं, जिसे अंग्रेज़ी में ग्रेट गॉडेस या मेगना मेटर कहा जाता है। क्या अनुमान हो सकता था कि दक्षिण की कोट्टवै कोट माई के रूप में विश्वविद्यालय के ही एक टीले पर प्रतिष्ठापित मिलेंगी? किन्तु यही इस देश की लोकवार्ता की शाश्वत विजय है। यहाँ प्रत्येक संस्था चिरंजीवी है। हिमालय के अलमोड़ा जिले में लोहाघाट से १२ मील की दूरी पर कोटलगढ़ स्थान है। वहाँ की किंवदन्ती है कि वह कोट्टवी का गढ़ था। कोट्टवी बाणासुर की माता थी। उसका आधा शरीर कवच से ढका हुआ और नीचे का आधा नंगा माना जाता है। कथा है कि एक बार महाबलि के पुत्र बाणासुर दैत्य का विष्णु से युद्ध हुआ। जितने असुर मारे जाते उनसे अधिक उत्पन्न हो जाते। तब देवों के प्रयत्न से महाकाली का जन्म हुआ। उसने असुरों का और नग्नदेवी कोट्टवी का वध किया। कोटलगढ़ का अर्थ है—नंगी स्त्री का गढ़ या वासस्थान (अमृत बाजार पत्रिका, १९ मई १९५२, हिल सप्लीमेंट, पृ० ३)। इस सूचना से यह परिणाम निकलता है कि दक्षिण की कोट्टवै की पूजा हिमालय पर्वत के अभ्यन्तर तक में प्रचलित थी। लोक में इसका और भी व्यापक प्रमाण मिलना चाहिए।

वामन पुराण (अ० ७०) में हिंगुलाज प्रदेश की देवी चर्चिका नाम मे प्रसिद्ध थी। किन्तु लोकपरम्परा में आजतक वह देवी नानी और कोटर या कोट्टवी कहलाती है। स्पष्ट है कि देवी का मूल नाम कोट्टवी था। शक प्रभाव से वह नानी या नाना नाम से पूजी जाने लगी। कुषाणों के सिक्कों पर नानी देवी का चित्र अंकित है। गुप्तयुग के धार्मिक प्रभाव से वही देवी चर्चिका कहलाने लगी।

६–५–५२ को प्रात: भ्रमण के समय कर्मनबीर के पास पहुंचने पर सामने गांव से आते हुए दो आदमी दिखाई दिए। उन्होंने बीर के दर्शन किए। उनसे बात चलाई, यह क्या है? बोले कर्मनबीर का स्थान है, वहीं बीर के स्थान के आगे एक चबूतरा था। मैंने पूछा—क्या यह भी बीर का स्थान है? उन्होंने कहा नहीं। यह अखाड़ा है। मैंने पूछा, और भी क्या आसपास कोई बीर है? उन्होंने कहा, हाँ हमारे गाँव टिकारी में खोरा बीर हैं, और देवी विन्ध्या माई हैं। बातचीत का सिलसिला जारी रखते हुए मैंने पूछा—बीर और शिवलिंग में क्या अन्तर है? उनमें से एक व्यक्ति का इस विषय में बिल्कुल स्पष्ट मत था। उसने बताया कि हर गाँव में एक बीर और एक देवी का होना जरूरी है। बीर और देवी का मन्दिर अलग-अलग होता है। शिव का मन्दिर हर गाँव में हो, यह जरूरी नहीं। दस-पाँच गाँव में एक शिवलिंग का मन्दिर रहता है, लेकिन ठाकुर या मुखिया की तरह बीर हर गाँव में होता है। कहा है—

"गाँव गाँव को ठाकुर,
गाँव गाँव को बीर"।

शिवलिंग और बीर में दूसरा भेद यह है कि शिव की पिण्डी छोटी और ऊपर से गोल होती है लेकिन बीर का थूहा बड़ा और नोकदार होता है। विश्वविद्यालय में कर्मनबीर दो हैं। दूसरे कर्मनबीर का थूहा ५ फीट ऊँचा और नीचे के पेटे में ७॥ फुट है। ऊपर की ओर वह नुकीला उठा हुआ है। यह यहाँ के सब बीरों में ऊँची मूर्ति है। तीसरा भेद यह है कि शिव के मन्दिर में गणेश, पार्वती आदि और भी मूर्तियाँ हो सकती हैं, लेकिन बीर के अस्थान पर बीर के अलावा और किसी देवता की मूर्ति नहीं रहती। उसकी इस व्याख्या से पहली ही बार मुझे ग्राम देवता के रूप में बीर की ठीक स्थिति, परम्परा और महत्त्व का पता चला और मेरे मन में यह बात साफ हो गई कि बीर-पूजा की धार्मिक तह और शिव पूजा की तह दोनों अलग-अलग हैं। लोक में पहले बीर-पूजा छाई हुई थी, उसके ऊपर शिव-पूजा का खोल चढ़ा।

एक दिन सायंकाल के समय हमारे यहाँ काम करनेवाले पं० तिलकधर ने लंका पर सुना कि काशी में एक डौड़ियाबीर और एक बुल्लाबीर हैं। पंडितजी के यह कहने पर कि बुल्लाबीर तो विश्वविद्यालय में हैं, उसने उत्तर दिया कि

अस्सी के इस पार के बीर असली हैं, उसके बाहर के नकली हैं। उसकी यह बात जो लोकपरम्परा में चली आई है ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इससे मत्स्य पुराण की उस अनुश्रुति का समर्थन होता है, जिसमें कहा है कि काशी में पहले यक्ष-पूजा प्रचलित थी, बाद में यहाँ शिव-पूजा का अड्डा जमा। जब शिव के भक्तों ने काशी पर अधिकार कर लिया तब काशी के यक्ष काशी के बाहर चले गए। लिखा है कि किसी समय शिव के भक्तों में जो काशी में बाहर से आए थे और यक्ष के अनुयायियों में जो पहले थे, झगड़ा उठा। इस झगड़े में शिव ने बीच-बिचाव किया और निर्णय दिया कि शिव के गण काशी में रहें और यक्ष काशी छोड़कर बाहर चले जाँय। तब यक्ष भक्तों ने अपने अस्थान बाहर बना लिए, पर जो अस्थान काशी में बने हुए थे उन्हें उखाड़ना सम्भव नहीं था, अतः वे भी बचे रह गए और काशी में आजतक लोक में यह बात चली आई कि जो काशी से बाहर के बीर हैं, वे असली नहीं। असली तो काशी की सीमा में रहनेवाले बीर ही हैं। लहुराबीर, बुल्लाबीर, डौड़ियाबीर उसी परम्परा के प्रतिनिधि हैं। विश्व-विद्यालय के बाहर पंचक्रोशी के हनूमान मन्दिर के पास दैतराबीर का मन्दिर है। यह बीर अवश्य ही किसी दैत्य या क्रूर यक्ष का प्रतिनिधि होना चाहिए। श्री परमेश्वरीलालजी से ज्ञात हुआ कि चेतगंज में भी दैतरा बाबा का थान है। इसका आशय यह है कि जितने बीर काशी में हैं, उतने ही बीर काशी के बाहर भी होने चाहिए। काशी से बाहर यक्ष-पूजा का सबसे बड़ा स्थान हरसूबरह्म है, जो प्राचीन हरि-केशव यक्ष का ही प्रतिनिधि जान पड़ता है। उसे आजतक स्थानपति माना जाता है। टिकारी गाँव में जिस खोराबीर का नाम गाँववाले ने उस दिन बताया था उसका कुछ आभास शान्ति पर्व (२८-३।५३) के खोरक नाम में मिलता है—'खोरकः सौरभेयाणाम्', अर्थात् शिव का जो क्रोध ज्वर के रूप में प्रकट हुआ वह नाना रूपधारी होकर चारों ओर फैल गया। बैलों में वही खोरक (खोरहा) कहलाया। खोरक रोग का नाम और लोक में वही बीर का नाम है। विश्वविद्यालय से नगर को जानेवाले मार्ग पर दाहिनी ओर बीर का नाम बरह्म बीर है। इस नाम में यक्षवाची प्राचीन ब्रह्म शब्द सुरक्षित रह गया है। काशी के बीरों की सूची में डौड़ियाबीर ध्यान देने योग्य है। प्राचीन लिच्छवियों की राजधानी वैशाली के बाहर घंटा यक्ष का चैत्य था। किसी बाहरी व्यक्ति के अनधिकृत या चोरी से नगर प्रवेश करने पर वह यक्ष घंटा बजाकर लिच्छवियों को सावधान कर देता था। काशी की प्राचीन सीमा पर कुछ ऐसा ही कार्य इस डौड़ियाबीर का था। बहुत से बीरों के नाम मनुष्यों के नामों पर हैं। वस्तुतः वैदिक देव और लोक के बीरों में यही अन्तर था कि यक्ष पुरुषप्रकृतिक देव थे, अर्थात् उनके पीछे असली प्रकृति या आदर्श मनुष्य का था। वायुपुराण में

वृष्णि पंचवीरों को पुरुषप्रकृतिक देव कहा गया है। अपनी बुद्ध गया की यात्रा में मुझे ज्ञात हुआ कि वहाँ बोधगया के पास ही बरह्मबीर का थान है। और भी मगध के गाँव-गाँव में बरह्म के थान हैं, जिनकी पूजा और मान्यता अभी भी जारी है[1]।

बीरवरह्म की पूजा का क्षेत्र आज भी बंगाल से राजस्थान, महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश तक फैला हुआ है। इसके प्रमाण पूछताछ करने पर मित्रों से मिलते गये। यदि हम लोकवार्ता साहित्य के अध्ययन को वैज्ञानिक पद्धति पर संगठित कर सकें तो इस विषय में सुस्पष्ट और निश्चित जानकारी की सम्भावना है जिसके द्वारा इस सामग्री को प्राचीन यक्ष-पूजा की परम्परा के साथ जोड़ना और भी अधिक सम्भव हो सकेगा। यहीं विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के प्राध्यापक श्री मेनन द्वारा यह जानकर प्रसन्नता हुई कि केरल और तमिलनाड़ में भी प्राचीन यक्ष और यक्षियों की पूजा की प्राच्य परम्परा अभीतक विद्यमान है और प्रायः वह हरेक गाँव में फैली हुई है। इस सम्बन्ध की सामग्री का संकलन दक्षिण भारत के जनपदीय कार्यकर्ताओं को करना चाहिए।

जनपद के द्वितीय अंक में प्रकाशित 'गाहा पल्हाया' शीर्षक लेख में हम लिख चुके हैं कि यक्ष-पूजा के साथ यक्ष-प्रश्न—यक्षों से प्रश्न पूछने की प्रथा भी थी जिसे प्रश्न व्याकरण भी कहते थे। आज भी यक्ष या वीर जब किसी के सिर पर आ जाता है तो चट चारों ओर से प्रश्नों की झड़ी लग जाती है। बता तू कौन है ? कहाँ से आया है ? और भी लोग जो-जो चाहते हैं, पूछते हैं। यक्ष-पूजा और मान्यता का यह आवश्यक अंग था। महाभारत में युधिष्ठिर और यक्ष के संवाद रूप में जो प्रश्नोत्तरी दी हुई है उसमें यक्ष पूछने वाला है और धर्म के प्रतिनिधि युधिष्ठिर उत्तर देने वाले हैं। लेकिन लोग पूछें, यक्ष उत्तर दें, वह भी एक परम्परा थी जो वैदिककाल तक पाई जाती है। महाभारत की यक्ष-प्रश्नोत्तरी लोक साहित्य का अभिन्न अंग थी। वहीं से वेदव्यास ने उसका संकलन किया था। यजुर्वेद के ब्रह्मोद्य प्रकरण में होता और राजमहिषी के बीच जो प्रश्नोत्तर दिए हुए हैं उनमें से कुछ वे ही हैं, जिन्हें व्यास जी ने यक्ष-युधिष्ठिर प्रश्नोत्तरी में स्थान दिया है। वैदिक साहित्य के साथ लोक साहित्य के मेल का यह विलक्षण उदाहरण है। यह आश्चर्य तब और भी बढ़ जाता है जब हम देखते है कि कुरु जनपद के लोक साहित्य की परम्परा में जिसे मल्होर या गाहा

---

१. इस सूचना के लिये मैं निर्माण-विभाग विश्रामगृह के चौकीदार श्री राम औतार का अनुगृहीत हूँ।

और पल्हाया कहा जाता है, उसमें भी यक्ष-प्रश्नों से मिलते-जुलते बोल पाए जाते हैं।

'ए जो कौन जगत में एक है, ए जी कौन जगत में जागता ?'

इस प्रश्न के उत्तर में—

'ए जी राम जगत में एक है, ए जी धर्म जगत में जागता।'

महाभारत और यजुर्वेद में इसी प्रश्न को यों पूछा गया है—

'किं स्विदेकाकी चरति किं स्विदाजायते पुनः।'
'सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।'

यदि यक्षों के गीत, वीर पूजा के गीत और शिलोगों का पर्याप्त रूप में संग्रह किया जाय तो आशा है उनके अध्ययन से और भी प्राचीन साहित्यिक अभिप्राय खुलेंगे।

श्री डा० आनन्द कुमारस्वामी ने सर्वप्रथम यक्ष-पूजा की व्यापकता पर प्रामाणिक ढंग से ध्यान दिलाया था। बौद्ध, जैन और ब्राह्मण साहित्य में इस सम्बन्ध की जो सामग्री है, उसके आधार पर उन्होंने यक्ष नामक ग्रंथ लिखा, जिसका पहला भाग वाशिंगटन के स्मिथसोमियन इन्स्टीट्यूशन से १९२८ में और दूसरा १९३१ में प्रकाशित हुआ। उससे ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में बड़े-बड़े नगरों के पास प्रसिद्ध यक्ष-मन्दिर थे, जैसे कपिलवस्तु में शाक्यवर्धन यक्ष का मन्दिर था, जहाँ बालक सिद्धार्थ के माता-पिता बच्चे को लेकर पूजा के लिए गये थे। वैशाली के बाहर विशाल नामक यक्ष का मन्दिर था। पाटलिपुत्र में पुरगा नामक यक्षी का मन्दिर था। गया में शुचिलोम यक्ष का मन्दिर था। आज भी लोक में इन स्थानों के लिए 'भौन, शब्द प्रचलित है। जैन ग्रन्थ सूर्य प्रज्ञप्ति के अनुसार मिथिला नगरी से बाहर मणिभद्र नामक जक्ख का चैत्य था। औपपातिक सूत्र के अनुसार चम्पा (वर्तमान भागलपुर) के पास पूर्णभद्र यक्ष का मन्दिर था जिसमें पूजा के लिए अमीर-गरीब सभी इकट्ठे होते और यक्ष, ध्वजा, घण्टी-घण्टे, मोरछल, चन्दन, पूर्णघट, सुगन्ध, लाल-चन्दन, पुष्प आदि से धूमधाम की पूजा होती थी। वहीं मेले में नट, कला करने-वाले, गाजे-बाजे वाले, तमाशेवाले, पहलवान, कथक्कड़, पवाड़ा गाने वाले भाँति-भाँति के लोगों का मेला लगता था। इस तरह के उत्सव को यात्रा कहते थे। उसी का वर्तमान हिन्दी रूप जात (प्राकृत जत्त) अभी तक बच गया है। लोक में चाहे अन्य कोई वस्तु सुरक्षित रहे या न रहे, मेले और उत्सव बराबर जीवित रहते हैं। कालान्तर के प्रभाव से उनके स्वरूप में कुछ हेर-फेर हो जाता है। हमारा अनुमान है कि नागों, यक्षों और देवियों के जो मेले प्राचीन काल में लगते

थे और जो प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थान विविध जनपदों में थे, वे आज भी किसी न किसी रूप में वहाँ मिलने चाहिए । उदाहरण के लिए महाभारत में राजगृह के पास मणिनाग नामक नाग के चैत्य का उल्लेख आया है । मणियार मठ के नाम से राजगृह में आजतक सर्प पूजा की वह परम्परा चली आती है । भरतपुर से तीन मील दूर पर नोह गाँव के एक टीले के पास मौर्यकालीन महाकाय यक्ष मूर्ति की प्राप्ति हमें १९३३ में हुई थी, उसे तब तक गाँव वाले जखैया के नाम से पूजते थे । आज तक भी वह मूर्ति वहाँ पुजन्त में है । भारतीय लोक जीवन को कहीं पर भी खुरच कर देखा जाय तो उसके नीचे प्राचीनता के बहुत से परत निकलने लगते हैं । समाज किसी भी संस्था या पूजा-पद्धति के विषय में सशंक नहीं होता, किसी का बलपूर्वक निराकरण नहीं करता । प्रत्येक धार्मिक संस्था अपने-रस से जीवित रहती है और अपने-रस से घटती-बढ़ती या रूप बदलती हुई दूसरी संस्थाओं में घुल-मिल जाती है । असम प्रान्त से जहाँ प्राचीन भू-देवी की पूजा कामाख्या के नाम से प्रचलित है, काठियावाड़, आन्ध्र और केरल तक निषाद, शबर, मुण्डा, किरात, द्रविड़, आर्य आदि अनेक धार्मिक निष्ठाएँ प्रचलित रही हैं, और उन्होंने एक दूसरे को प्रभावित किया है । कामाख्या देवी की पूजा का वर्णन करनेवाले योगिनीतन्त्र में वहाँ के उत्सव को स्पष्ट ही शबरोत्सव कहा गया है, जिसमें जंगली जातियों के शिथिल नैतिक आचार भी प्रचलित थे । उसी ग्रन्थ में स्थानीय धार्मिक मान्यताओं को कैरातज धर्म (योगिनी तन्त्र २–९–९) कहा गया है जो बिल्कुल ठीक है । किरात (अंग्रेजी मौनख्मेर) जातियों का निवास उस प्रदेश में आज तक है, वहाँ उनके धर्म का प्रचार एवं प्रभाव स्वाभाविक था । आर्यसंस्कृति ने स्थानीय संस्कृतियों के प्रभाव में आकर उन्हें अनेक भाँति से प्रभावित किया, और यथासम्भव अपने नैतिक सौरभ से सुवासित किया । परिणाम स्वरूप स्वयं भी वह उन संस्कृतियों से प्रभावित हुई । उदाहरणार्थ यक्ष धर्म की जो पूजा-पद्धति थी उसे भागवत धर्म में स्वीकार किया गया । इसे ही गीता में-"पत्रं पुष्पं फलं तोयं" द्वारा देवपूजन कहा गया । प्राचीन यक्ष पूजा में तीन अंग आवश्यक थे । वाद्य, पुष्प और बलि । इनके अंत में प्रसाद वितरण होता था । पूजन की यह-विधि यज्ञ विधि से भिन्न थी । जिस प्रकार यक्ष मूर्तियों से विष्णु मूर्तियों का विकास हुआ और पञ्चवीर पूजा से वृष्णि पञ्चवीरों की उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार यक्ष-दैत्यों की पूजा-विधि भी भागवतों द्वारा अपना ली गई । उसी का प्रमाण गीता में वर्णित "पत्रं पुष्पं फलं तोयं" हैं । इनमें से कोई अंग वैदिक यज्ञ विधि में आवश्यक नहीं । देखा जाय तो भागवतों में भी दोनों परम्पराएँ काफी देर तक चलती रहीं । परमसंहिता, अहिर्बुंध्न्य संहिता आदि प्राचीन पंचरात्र संहिताओं में एक ओर भागवतधर्म के पूजन में वैदिक

यज्ञों का भी अनुष्ठान और स्वीकृति है और दूसरी ओर नृत्य, गीत, वादित्र, पत्र, पुष्प, फल, बलि आदि के द्वारा लौकिक पूजा विधि-मान्य समझीं गईं और उसका सुविस्तृत उल्लेख किया गया है। इस प्रकार हिन्दू-संस्कृति समन्वय के बीजमन्त्र को लेकर आगे बढ़ी है। इसी बीजमन्त्र से हिन्दू-संस्कृति में उस अभयमुद्रा का जन्म हुआ जिसके कारण छोटी और बड़ी, ऊँची और नीची, सब संस्कृतियां एक परिवार की अंग बनी हुई हैं। गंगा की धारा में भरे हुए बलुआ कणों की भाँति यहाँ आपस में सादृश्य और अभेद ही अधिक देखा जाता है और जीवन की सन्तत परिचालित गति भी उसी लक्ष्य की ओर बढ़ती चली जाती है।

परिशिष्ट

बावनवीर नामावली (१)

१ क्षेत्रपाल वीर
२ कपिल
३ बटुक
४ नारसिंह
५ गोपाल
६ भैरव
७ गरूड़
८ रक्तवर्ण
९ देवसेन
१० रुद्र
११ वरुण
१२ भद्र
१३ वज्र
१४ वज्रजंघ
१५ स्कन्ध
१६ कुरु
१७ प्रियंकर
१८ प्रियमित्र
१९ वह्नि
२० कन्दर्प
२१ हंस
२२ एकगंध
२३ घटोपथ
२४ दायक
२५ काल
२६ महाकाल
२७ मेघनाद
२८ भीम
२९ महाभीम
३० तुंगभद्र
३१ विद्याधर
३२ वसुमित्र
३३ विश्वसेन
३४ नाग
३५ नागहस्त
३६ प्रद्युम्न
३७ कंपिल
३८ बकुल
३९ उरद्धपद
४० त्रिमुख
४१ पिशाच
४२ भूतभैरव
४३ महापिशाच
४४ कालमुख
४५ कुनक
४६ अस्थिमुख
४७ रेतोत्रेधस
४८ श्मशानाचार
४९ केलिकल
५० भृङ्ग
५१ कंटक
५२ विभीषण

(जयसागरसूरि रचित जिनदत्तसूरि चरित्र से)

बावनवीर नामावली (२)

१ वापिल्लो
२ खुदीओ
३ तलपहरी
४ नाड़ीतोड
५ सूलीभंजण
६ मसाणलोटण
७ गढपाडण
८ समुद्रतारण
९ समुद्रसोषण
१० लोहभजण
११ संकलतोडण
१२ विसखापरो
१३ रुंडमाल
१४ अगीयो
१५ बापवीर
१६ जमघंट
१७ काल
१८ अकाल
१९ अग्निकान्ति
२० विषकान्ति
२१ रगतीयो

पृष्ठ १४८ से १४९ की इन सूचियों के लिए हम श्री अगरचन्द नाहटा जी के अनुगृहीत हैं।

२२ कोइलो	३३ कापडीयो	४४ महाभ्रमर
२३ कालीयार	३४ केदारो	४५ सहस्राक्ष
२४ कालवेल	३५ नाहरसिंह	४६ साहसांग
२५ कालघरट्ट	३६ गोरो	४७ क्षेत्रपाल
२६ इन्द्रवीर	३७ घट	४८ भूतखाण
२७ यमवीर	३८ कंटक	४९ शाकनीमार
२८ देवारि	३९ वग	५० देवरथभंजण
२९ दुरितारि	४० महावग	५१ सालवाहन
३० हरादिर	४१ संतोष	५२ आर्द्रकुमार
३१ झाँपड़ो	४२ महासंतोष	
३२ माणिभद्र	४३ भ्रमर	

इति बावनवीर

बावनवीर नामावली (३)

(अभी-अभी खरीद की हुई हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर)

१ छापिलो	१९ कालोवीर	३७ गोरिलोवीर
२ धुलियोवीर	२० गोरोवीर	३८ घूँटवीर
३ तलपग्राहारीवीर	२१ अगिनकान्तवीर	३९ कूटकवीर
४ सूलीभंजनवीर	२२ विषकांतवीर	४० वकवीर
५ नाडीतोडणवीर	२३ रगतियोवीर	४१ महावीर
६ मुसांसतोडणवीर	२४ कालीयावीर	४२ संतोसवीर
७ गडउपाडणवीर	२५ कालवेलवीर	४३ भ्रमरवीर
८ समुद्रउतारणवीर	२६ कालघरटवीर	४४ महामरवीर
९ समुद्रसोषणवीर	२७ इन्द्रवीर	४५ केदारवीर
१० पर्वतऊपाडणवीर	२८ जमवीर	४६ सहश्रषांणवीर
११ लोहभंजनवीर	२९ देवारिवीर	४७ सहश्रांक वीर
१२ सांकलतोडणवीर	३० दूरितारवीर	४८ भूतषांणवीर
१३ विषपहारीवीर	३१ दूरिपारवीर	४९ शाकनीमारवीर
१४ रुंडमालवीर	३२ हरियारिवीर	५० डाकनीमारवीर
१५ आगिषाउवीर	३३ झांपड़ोवीर	५१ सहश्रांध्य वीर
१६ सापषाउवीर	३४ मांणभद्रवीर	५२ उत्तमादिकवीर
१७ जमघंटीवीर	३५ कापडीवीर	
१८ असलटीवीर	३६ नारसिंहवीर	

इति बावनवीर नामः

बावनवीर नामावली (४)

(यह नामावली बीकानेर के पूज्य श्री विजयेन्द्रसूरिजी से प्राप्त हुई है)

१ कपिलऊँवीर
२ खोडियावीर
३ तलपहारोवीर
४ नाडितोडनवीर
५ मुलीभंजनवीर
६ मसाणलोटनवीर
७ गढ़उपाडणवीर
८ समुद्रतिरणवीर
९ समुद्रसोषणवीर
१० लोहभंजनवीर
११ सांकलितोडनवीर
१२ विश्नपारवरवीर
१३ रूंडमालावीर
१४ आगीयावीर
१५ वापवीर
१६ यमवंटवीर
१७ कालिवीर
१८ अकालवीर
१९ अग्निकंतवीर
२० विषाक्रन्त वीर
२१ रगतीयावीर
२२ कोयलावीर
२३ कालीयावीर
२४ कालवेलवीर
२५ कालघंट
२६ इन्द्रवीर
२७ जमवीर
२८ देवरारिवीर
२९ दुतरारिवीर
३० हरारिवीर
३१ झांपड़ावीर
३२ माणिभद्रवीर
३३ कापडीयोवीर
३४ केदारोवीर
३५ नारसिहवीर
३६ गुरचलोवीर
३७ घटवीर
३८ कातरवीर
३९ वांगुवीर
४० महतवीर
४१ संतोषवीर
४२ संतोषमहावीर
४३ भमरवीर
४४ महाभमरवीर
४५ क्षेत्रपालवीर
४६ भुतषाणवीर
४७ हिडवखानवीर
४८ मकषाणवीर
४९ साकिणीभूतवीर
५० दरूतभंजनवीर
५१ एराजभालवाहनवीर
५२ आद्रकवीर

चौसठ योगिनी नामावली (१)

१ ब्रह्माणी
२ कुमारी
३ वाराही
४ संकरी
५ रुद्रांणी
६ किकाली
७ कराली
८ काली
९ महाकाली
१० चांमुडा
११ ज्वालामुखी
१२ कामाक्षा
१३ भद्रकाली
१४ दुर्गा
१५ अम्बिका
१६ ललिता
१७ गोरवी
१८ सुमंगला
१९ रोहिणी
२० कपिला
२१ सूलकरा
२२ कूडलनी
२३ त्रिपूरा
२४ कुरकुल्या
२५ भैरवी
२६ चम्पावती
२७ वारसिघी
२८ निरजना
२९ हेमवती
३० प्रेतोसना

३१ ईश्वरी
३२ वेशांनरी
३३ विनायकी
३४ यमघण्टा
३५ सरस्वती
३६ तोतिला
३७ वेंसनवी
३८ वंदी
३९ संषनी
४० पदमनी
४१ चित्रणी
४२ वारुणी
४३ जमभगनी
४४ सूर्यपुत्री
४५ सुसीतला
४६ कृष्नवाराही
४७ रक्ताक्षी
४८ कालरात्री
४९ अकासी
५०. श्रेट्नी
५१ जया
५२ विजया
५३ इमवती
५४ वागेश्वरी
५५ कात्यायनी
५६ अग्निहोत्री
५७ चक्रेश्वरी
५८ महाविद्या
५९ इसानी
६० भवानी
६१ भुवनेश्वरी
६२ चक्रेश्वरी
६३ मोहरात्री (महाराती)
६४ थी (घी) देवी

इति चौसठ योगिनी नामावली

चौसठ योगिनी नामावली (२)

१ दिव्या जोगिनी
२ महाजोगिनी
३ सिद्ध जोगनी
४ युगेश्वरी
५ प्रेताक्षी
६ डाकिनी
७ काली
८ कालरात्रि
९ निशाचरी
१० क्लींकारी
११ सिद्धि वैत्ताली
१२ ह्रींकारी
१३ भूतडाम
१४ उर्ध्वकेशी
१५ बिरुपाक्षी
१६ रक्ताक्षी
१७ नरभोजनी
१८
१९ वीरभद्राक्षी
२० धूमाक्षी
२१ कलहप्रिया
२२ राक्षसी
२३ घोर रक्ताक्षी
२४ विरक्ताक्षी
२५ भयंकरी
२६ वीरी
२७ कुमारी
२८ चँडिका
२९ विराही
३० मुंडधारिणी
३१ भैरवी
३२ वज्रणी
३३ क्रोधाये
३४ दुर्मुखा
३५ प्रेतवाहनी
३६ कंटकी
३७ लंबोष्ठी
३८ मालिनी
३९ मन्त्र योगिनी
४० कालाक्षी
४१ मोहिनी
४२ चक्री
४३ कंकाली
४४ भुवनेश्वरी
४५ कुण्डली
४६ मालिनी
४७ लक्ष्मी
४८ धनदुरो
४९ करालो
५० कोशिको
५१ भद्राणी
५२ व्याघ्रणी
५३ यक्षायै
५४ यक्षणो
५५ कुमारी
५६ यंतवाहिनी
५७ विशाली

५८ कामाक्षी
५९ विषहारिणी
६० द्वीजटी
६१ ित्रकटी
६२ घोरायै
६३ कपाली
६४ विषलंगुली

इति चौसठ योगिनी

चौसठ योगिनी नामावली (३)

१ काली
२ कराली
३ ईश्वरी
४ सुसामाला
५ दिव्ययोगी
६ महायोगी
७ वारुणी
८ ब्रह्माणी
९ अम्बिका
१० दुर्गा
११ जया
१२ विजया
१३ धूमवती
१४ कामेश्वरी
१५ चामुण्डा
१६ महाकाली
१७ चित्रणी
१८ वारुणी
१९ कुरुकुल्ला
२० कपिला
२१ रोहिणी
२२ सुमंगला
२३ वाराही
२४ रक्ताक्षी
२५ वैनायकी
२६ यमघंटा
२७ वैश्वानरी
२८ प्रेतनाशा
२९ हेमकान्ता
३० निरजनी
३१ संखिनी
३२ पद्मनी
३३ चन्द्रावती
३४ नाहर्रसिही
३५ चंडी
३६ सौतिला
३७ सरस्वती
३८ हरसिद्धि
३९ वैश्वनी
४० ईशानी
४१ ललिता
४२ गौरी
४३ सूर्यपुत्री
४४ प्रेमभगनी
४५ वनदेवी
४६ नारायणी
४७ भैरवी
४८ भद्रावती
४९ अग्निहोत्री
५० कात्यायनी
५१ ज्वालामुखी
५२ कामाक्षी
५३ कपालिनी
५४ भद्रकाली
५५ श्रेष्ठिनी
५६ कालरात्रि
५७ युगेश्वरी
५८ सिद्धि
५९ कुमारी
६० शंकरी
६१ इन्द्राणी
६२ ह्लींकाली
६३ महाविद्या
६४ चक्रेश्वरी

इति चौसठ योगिनी

शब्दानुक्रमणिका

अ

अक्रूर २०, २५
अक्षयनवमी ३९
अगडमह ५
अग्गिवतिक ६
अग्नि ८
अङ्गविजा १४
अजन्ता १०७
अज्जामह ७
अठ्ठकथा ४५
अथर्वपरिशिष्ट संग्रह ३३
अथर्ववेद ३१, ३३, ७८, १२३
अन्धक २५
अन्नकूट ३४
अनन्त नाग ८
अभिषव ३३
अमरकोष ६१
अम्बिका ६४
अयस्करी (जातहारिणीदेवी) १८
अर्जुन २५
अर्बुद ७५
अर्यमा ७४
अलकापुरी १२८
अवटमह, ५
अवध्यब्रह्मपुर १२४
अवभृथस्नान ३३
अशोक २१, ८९
अश्वमेध ८, ९७, १०६
अश्वत्थ ७८
अश्वत्थवृक्ष ८
अश्वयुद्ध ३७
अश्वव्रत १०१
अष्टाङ्ग-संग्रह ५१
असुर वतिक ६
अस्स वतिक ६

आ

आटानाटीय सुत्तन्त १३५
आदिनाथ ६६
आदिपर्व ७
आनन्दकुमार स्वामी ३, ११९
आम्रशालवन ९५
आयाग-पट्ट १३०
आरण्यक पर्व ५९
आर्या ६०
आर्यामह ७
आश्वलायन ९१

इ

इतवार ३८
इन्दमह ५
इन्दवतिक ६
इन्द्र ६३, ७४
इन्द्रध्वज २३, २८, ४१
इन्द्रमह २८
इन्द्रयष्टि ३१
इन्द्र (वासव) ८
इन्द्राटक ३३

उ

उग्रसेन २५ ८६

उच्चैःश्रवा ८

उज्जाणजत्ता ५

उदानवग्ग ४५

उदिताचार्य ६६

उपत्यका ६५

उपनन्द ६९

उपमितेश्वर ६६

उपेन्द्र ३२

उमा ६५

ऋ

ऋग्वेद १२०

ए

एफ्रुडाइटी ६१

एलौरा १०७

एशिया १२१

ऐ

ऐरावत ४७, ८

क

कंस २०, २१

कद्रू ६८

कनिष्क ६२

कन्धार ७४

कन्हेरी ९२

कपिलवस्तु ८३, १२७, १४१

कपिलेश्वर ६६

कल्पवृक्ष ७९

कश्मीर ७५

काकवतिक ६

काङ्गड़ा ३१

काठियावाड़ १४२

कानपुर ९९

कापालिक ६७

कापिशी ६३

काबुल ७०

कामदेव ६१

कामधेनु ८

काममह ७

कामसूत्र २१, ८२

कामाख्या १४२

कार्त्तिकेय ५१, ६१, ६२

कालकर्णी १०१, ११२

कालवेलिए ८

कालसी का प्रथम शिलालेख २१

कालिदास ३१, ४९, ८१, ९०, १०९, १२८

कालिन्देवता ६

कालिय नाग ६९

काशिका ४, ४३

काशी ८६

काशीखण्ड ६१

काश्यप संहिता १७, ५२, ५९, ६१

किउपिड ६१

कुकुरव्रत ७

कुक्कुरव्रतिक १०२

कुविन्दी १८

कुबेर ४८, ८१, १२४, १२९

कुमाऊँ ७१, ७२

कुमारक्रीडितक ५४

कुमारस्वामी १३०

कुमारी पूजा ३४

कुलाली १८

कुषाण कला ६२, ६६
कूष्माण्ड ४५
कृष्ण ४, २०, २३
केन उपनिषद् १३२
केरल १४०
कोट्टकिरियामह ७
कोट्टक्रिया ११४
कौटलीय १२६
कौशाम्बी १०८
कौशिक सूत्र ३३

ख

खन्दमह ५, ३६, ४५

ग

गङ्गा ८, १०२
गङ्गामह ४
गण ६
गद २५
गङ्गौर ११५
गन्धर्व ८, २६
गन्धव्व वतिक ६
गन्धार ७०, १२६
गरुड़ ८, ६८
गरुड़ध्वज १००
गिरिजत्ता ५
गिरिमह ५, २३, २५
गिरियज्ञ ५, २४
गिरियात्रा ५
गीता ५२, १००
गुजरात ३
गुप्तकाल ६१, ५४, ६६
गुप्तयुग ४६८
गुरु गोरखनाथ ६६
गुह ५६
गृह्यसूत्र ३
गोपाल सहस्रनाम ६५
गोपी १८
गोयज्ञ २४
गोवतिक ६
गोवर्द्धन ४, २३, ३४, ८४
गोव्रत ७
गोस्वामी १३३
गौतम ६३
ग्वालियर १३०

च

चंपक ७०
चक्रध्वज १००
चन्दिम, ६
चन्दिमवतिक ६०
चन्देल ८५
चन्द्र ८
चरकसंहिता ५१
चर्चादेवी ६१
चुलकोका १३१
चूँदड़ी १
चेइय जत्ता ५
चेइयमह ५
चैत्य यात्रा ५
चैत्ररथ ११८
चैत्यमह ६१

छ

छड़गांव ७२
छाछीदेवी ६१

ज

जंगम ६७
जक्खजत्ता ५
जक्खमह ५
जनमेजय ६८
जम्भ १२५
जम्भक ६
जर्जर ३६०
जरासंघ १२९, १३०
जातक ३७
जातहारिणी ५४
जामातृदेवता ६०
जाह्नवी ८
जन्मेजय ६६
जैन ग्रन्थ ५
ज्ञाताधर्मं कथा ५

झ

झवेरचन्द १
झाछ ६३

ट

टामस २१
टिउटन ७४

ड

डोडिया १३३

ण

णायाधम्मकहा ५, ८४, ९१

त

तक्षिणी १८
तड़ागयात्रा ४४
तमिल ३, ३२, ७
तमिलनाड १४०
तलाबजत्ता ५
त्वष्टा ४
तारकासुर ४६
ताण्ड्यब्राह्मण ७३
तारापीड़ ७४
तिलकमंजरो ६०
त्रिकोण १

थ

थूभमह ५

द

दण्डयुद्ध ३७
दण्डी ८४
दधिकर्ण ७२
दरीमह, ५, ६०
दशकुमार १३५
दिव्यधनु २२
दिव्यावदान ७६
दिसापोक्सी १०३
दिसावतिक ६
दीनार ७०
दुट्टगामिणी ६४
देववतिक ६
देवसेना ६
देवी—अङ्गविज्जा के देवता—विजय अध्याय में उल्लिखित देवताओं की सूची १५
—वायु पुराण में वर्णित देवियों की सूची १६
—काश्यपसंहिता के रेवती कल्प में आई हुई कुषाण-कालीन देवियों की सूची १७

—२६ प्रकार की जातहारिणी देवी १८
—मत्स्यपुराणान्तर्गत २०० देवियों की सूची १२, १३, १४
देशी नाममाला ३४
द्रोणपर्व ४१
द्रौपदी २२
द्वारका ८६, २६

ध

धनंजय (अर्जुन) ८
धनपाल ६०
धनुःपाल २२
धनुर्मह २०, २१, ७
धम्मगिरिया ६
धर्मगिरीय ६
धम्मेखस्तूप २७
धृतराष्ट्र १११
ध्वजमह ३५

न

नईजत्ता ५
नक्षत्र ४
नगरकोट ३१
नगरहार ७०
नदीमह ४३, ७६
नन्दनवन ७६
नन्दिकेश्वर ६०
नरवर्मदेव ६१
नलोपाख्यान १३४
नाग ८
नागदेवता ६८
नागमह ५
नागयज्ञ ६६
नागयात्रा ५
नागसेन १०१
नागसेना १०१
नाट्यवेद ३५
नाट्यशास्त्र ३५
नाथ पन्थ नानार्थार्णव संक्षेप कोष ६१
नायाधम्मकहा ३६, ४०, ४१, ४४, ६३
नारायण वाटिका ६७, ६६, १२६
निकुंभिला ६३
निदानकथा ८२
निद्देस ६
निशीथ चूर्ण ४१
नीलमतपुराण ७५
नेजिका १८
नेपाल ३८
नौरञ्जानानदी ६६

प

पंचशील १११
पंचतन्त्र ७०
पदकर ७८
पद्मिनी विद्या १०६
परयार ६१
पर्वतयात्रा ५
पवन ८
पव्वता ६
पव्वथ यत्ता ५
पशुपति रुद्र ६५
पहलवी ११६
पाटलिपुत्र १३०
पाणिनि ६७, १३७, १२२,
पावक ८
पितर ८

पितृव्रता: ७
पुण्णभद्दवतिक ६
पुराण ४, ५९
पुरातत्त्व ६६, ११७
पूतना ५४
पूषा ४
पृथिवीसूक्त १, २
पृथिवीपुत्र १
पृथ्वीराज रासो १३४
पोतपत्तन ३२
प्रजापति ८
प्रद्युम्न २५

ब

बंगाल ३, ३०, १३५
बलराम २०, ३०
बल्लाबीर १३१
बहुपुत्रिका ५४
बाण २७, ८४
बाणभट्ट १०८
बाणासुर ११३
बालघातिनी ५४
बालचरित ३४
बुद्ध ७, ६९, १२२
बुन्देलखण्ड ८५
बुल्लानाला १३२
बुल्लाबीर १३२
बृहद्रथ १०६
वेसनगर ८१
बोधिसत्त्व १३०
बौद्धदेवी ५४
बौद्धधर्म ६६, ७०
व्रज २०
ब्रह्मभोज ३९
ब्रह्मगिरिया ६
ब्रह्मयोग ३३
ब्रह्मलोक ८
ब्रह्मवतिक ६
ब्रह्मा ८, ६२
ब्रह्मरोच ८

भ

भक्ति ७
भगवद्गीता ७
भगवान् विष्णु ८
भरत १०५
भरतपुर १३०
भरतमुनि ३५
भरहुत ८१
भागवत धर्म ५२, १००, ९२८
भागवत १००
भारतवर्ष ६४
भास ३४
भिलसा ६१
भीष्मपर्व ४३, ७९
भूतयात्रा ५
भूमि १
भूयजत्ता ५
भूयमह ५
भेलूपुरा १३३
भेषयुद्ध ३७
भूरिदत्त ७०
भैरवपूजा ६७

म

मउन्दमह ५
मक्खलि गोसाल ७
मकर ८
मकरध्वज ९९
मख ७
मज्झिम निकाय ७, १०२
मणिभद्दवतिक ६
मणिभद्र ३०
मणियारमठ ७२
मत्स्यपुराण १०२, १२, १३१
मथुरा २५, ६२, ७४
मदनदेव ८५
मन्दराचल ८७
मन्दसौर ३४
मल्लयुद्ध ३७
मह—प्राचीन साहित्य में आई हुई १८९
महों की सूची ४१
—णायाधम्म में आए हुए महों की सूची ९०
महाभारत २१, २५, २८, ४३, ४९, ५९, ६५, ७३, ९१, १२३
महादेव महाराज, ६
महायान १२९
महाराजवतिक ६
महावणिज जातक ८०
महावीर ७, ६२, ९५, १२२, १३२
महावृष ६३
महासेन ९०
महिषासुर ४९
मार्कण्डेय १३६
मार्कण्डेय पुराण १०९
मार्जारमुखी ६१
मालाकरी १८
माहेश्वर ६७
मित्रावरण १२०
मिथिला २२
मिलिन्दपन्ह ६
मिलिन्दमह १०४
मुकुन्दमह ९७
मुखकोष २७, ३८
मुखौटे ३८
मुट्ठिक २२
मुचुलिन्द ६९
मूजवन्त प्रदेश ६३
मृच्छकटिक ३४
मेघदूत ५०, १२२
मेघाणी १, २०
मे ट्री ४०
मे पोल ३९
मे दिवस ३९
मेरू ८
मोहन जोदड़ो ६५

य

यक्खवतिक ६
यक्ख-भरहुत के वेदिका स्तूप में उत्कीर्ण
यक्षों के नाम १३१
यक्ष(यक्षों के नामों की सूची) १९, १२८
यक्षमह ११८
यक्षपूजा ३, ६७
यक्षयात्रा ५

यजुर्वेद ६४, ६६
यम ८
यूनानी १०८
यौधेयगण ५१

र

रंगपीठ, ३६
रघुवंश ३१
रजकी १८
रत्रि ८
राक्षसगल्लू ६१
राजघाट ६१
राजतरङ्गिणी ३३
रांदलदेवी ११६
रायपसेणीय ६०, ६७
सयपसेनोय सुत्त ६३, ८५
रामायण २२, ७७, १०५
रीवां ६१
रुक्ख ५
रुक्खजुत्ता ५
रुक्ख देवता ८
रुद्द जत्ता ५
रुद्दमह ५, ६३
रुद्र ८
रेवती ६०
रेवती-कल्प ५२
रैवतक २५, २६, ३६, ८४
रोच ८
रोचदेवता ८

ल

लंका ६१
लहुरीबोर १३१
लिङ्गायत, ६७
लिच्छवि १३६
लोकदेवता—विष्णुधर्मोत्तर में आए हुए
लोक-देवों की सूची ८, ९, १०
लोहिताक्ष ६

व

वंक्षु ६३
वराहमिहिर ३०
वरुण ८, ७४
वल्लभाचार्य ३५
वामनपुराण १३८
वायुपुराण १०६, १११, १३६
वाराणसी १०३
वारुणी ५४
वासवदत्त ५४
वासुकि ८, ६६
वासुदेव ८
वासुदेव वर्तिक ६
विजयमङ्गला ८२
विनयपत्रिका १३३
विनयपिटक ६८
विभूतियोग ५३
विराटपर्व ७
विरूपाक्ष ६, १११
विलासवती ७४
विशाख ४७, ६०
विश्वदेव ६२
विश्वभव ६२
विश्वावसु ६३
विश्वसीमा ६२
विश्वेदेव १०२

विष्णु ६३, ६५
विष्णुधर्मोत्तर ८
विष्णु ८, ९९
वीरसिंह देव ८५
वीहाई के देव ६०
वृक्षमह ७६
वृक्षयात्रा ५
वृष्णि २५
वेत्रवती १३५
वेदव्यास १
वेसमण जत्ता ५
वैदिक देवता—वैदिक देवताओं सूची ४
वैदिक देवता ३
वैभ्राज १२८
वैश्रवण ६, ८, ७७
वैश्रवणादि उत्सव ३६
वैश्रवणयात्रा ५
वोलसुङ्ग ७२
व्रजमण्डल ३४
व्रतिक ६, ७

श

शंखपाल ७०
शक्रमह ५, २३, २५, २८
शक्रवापी ७२
शाक्य मुनि ९८
शाक्यवर्द्धन १४१
शाबरोत्सव ११५
शालटंकक ४५
शिल्पाधिकारकम् ३३
शिव ६३
शिवपार्वती ६४
शिवपूजा ६७
शिवमह ६३
शिवयात्रा ५
शुङ्गकाल ६१
शुद्धोदन १०६
शेषनाग ६८
शैवधनु २२
श्रमणधर्म ८०
श्रावस्ती ६२
श्री कृष्णानंद गुप्त १३४
श्रीदेवता १०४

स

संअन ७३
संस्कृत ४
संस्कृति १
सत्यभामा ८८
सप्तमातृका ५४
समुद्र ४
समुद्रस्नान ३३
सम्मिनदेई (प्राचीन लुम्बिनी) ९८
सरमह ५
सर्वेश्वर १००
सविता ४
सहोदरा २६
सांची २७, ७७, ८५
साकेत ७३
सागरमह ५, ८६
साम्बादित्य ११६
सारण २५,२६
सारनाथ २७
सिंह ८

सिव जत्ता ५
सिवमह ५
सीतायज्ञ ५, २८
सुकथानकर ३०
सुग्रीव ७९
सुत्तनिपात ६, ९८, १००, १०२,
सुपण्णवतिक ६
सुपिया ६१
सुबन्धु ५४
सुभद्रा २६, ३९
सुरेश २३
सुश्रुत ५१
सुश्रुत संहिता ५०
सूरिय ६
सूर्याभदेव ९६
सेवापुरी १३२
सोयिल १०३
सौन्दरनन्द १०६
सौपर्णाभास ७४
सौरती १०९
सौराष्ट्र ११५
स्कन्द ७, ८, ५९, ६२
स्कन्दगुप्त ६१
स्कन्दपुराण ६६
स्कन्दयाग ३३, ४५
स्मिथसोमियन १४१

ह

हत्थिवतिक ६
हरिवंश ४, २०, ३२
हरिवंशपुराण २३, ८८, ८६
हर्षचरित २७, ६०
हल ५
हलगैल ३८
हस्तिनापुर १०२
हस्तियुद्ध ३७
हारीति ५३, ५८
हिन्दूधर्म ६५
हिमालय ३, ८
हिलिओदोर ९९
हुविष्क ६०
हेमचन्द्र ३४
हेमराज ५२

राजकीय संग्रहालय पुस्तकालय, लखनऊ
क्रमसंख्या 3103
प्राप्ति तिथि
State Museum, Library, Lko.

...D1ع
[illegible]

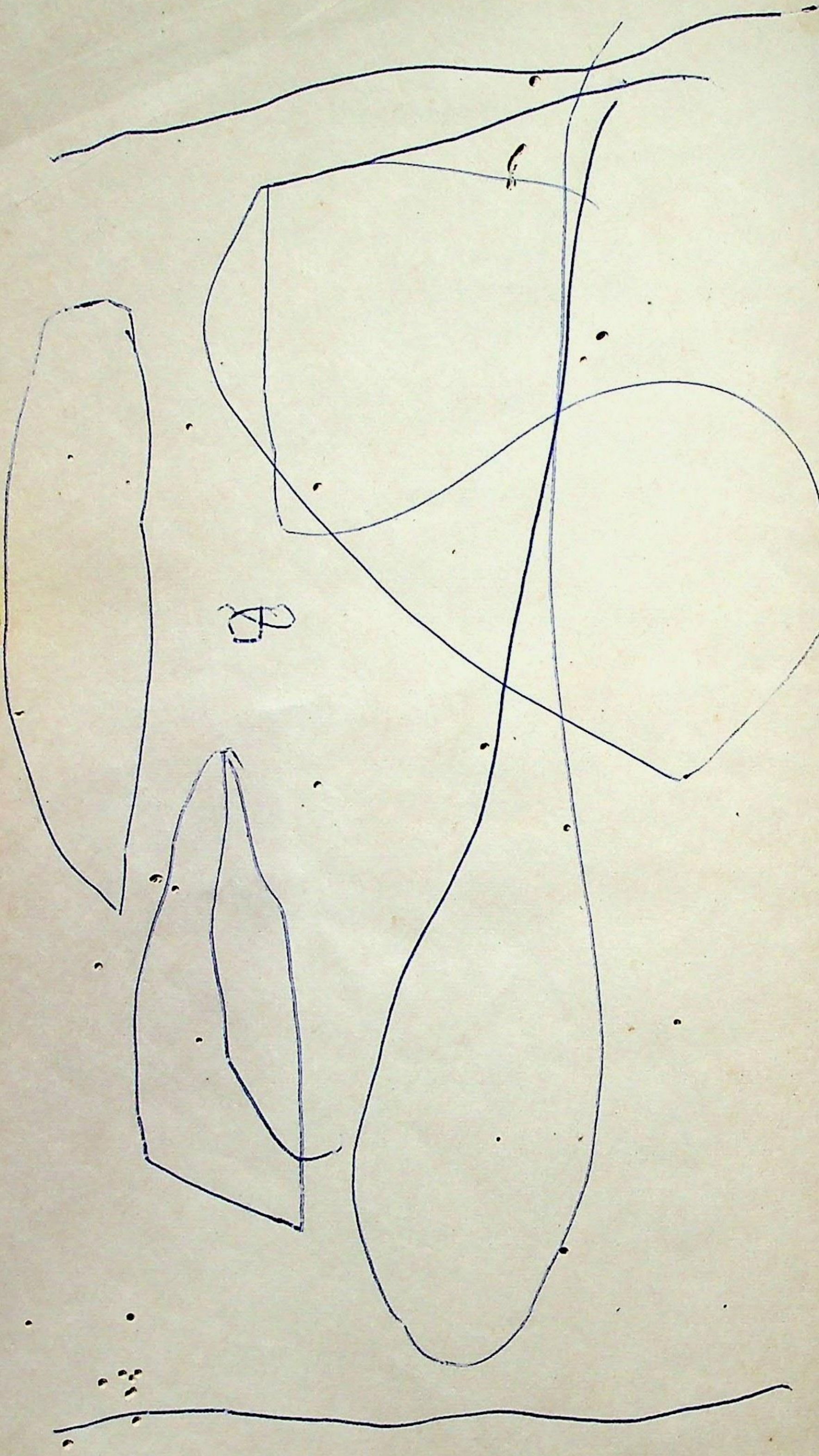

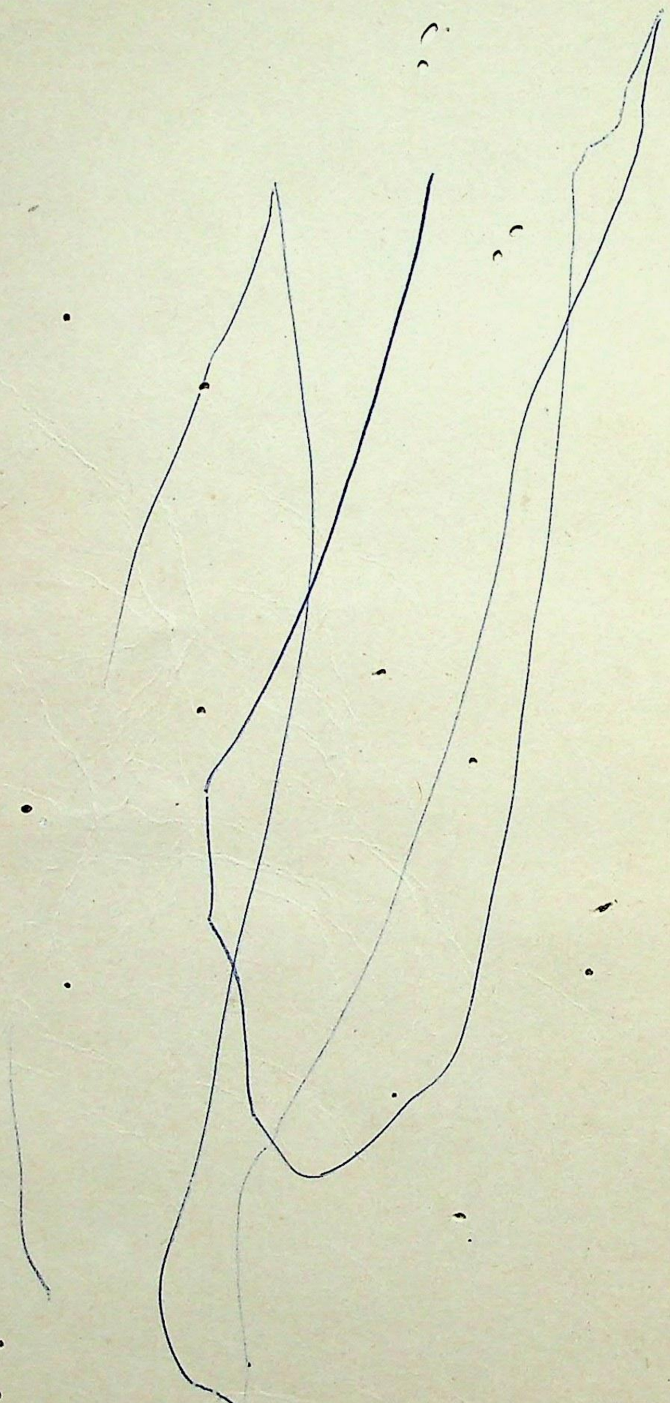

ज्ञानोदय ग्रन्थमाला के प्रकाशन

१. भारतीय तत्त्वविद्या

व्याख्याता : पण्डित सुखलालजी

बड़ोदा महाराजा सयाजीराव गायकवाड पारितोषिक व्याख्यानमाला में पण्डितजी द्वारा दिये गये पाँच व्याख्यानों का हिन्दी अनुवाद—प्रस्तुत ग्रन्थ में भारतीय दर्शनों की जगत्, जीव और ईश्वर विषयक मान्यताओं का तटस्थ एवं तुलनात्मक दृष्टि से विशद निरूपण किया गया है। मूल्य : तीन रुपये

२. सन्मति-प्रकरण

लेखक : पण्डित सुखलालजी तथा पण्डित बेचनदास जीवराज दोशी

महान् तार्किक सिद्धसेन दिवाकरकृत सन्मति-प्रकरण का अनुवाद, विवेचन एवं ग्रन्थ-ग्रन्थकार विषयक ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक प्रस्तावना। मूल्य : छः रुपये

पण्डित सुखलालजी के हिन्दी और गुजराती लेखों का संग्रह

१. हिन्दी : दर्शन और चिन्तन

पण्डितजी के मौलिक चिन्तन एवं अन्तर्दृष्टि के परिपाक रूप तुलनात्मक एवं समन्वयमूलक धर्म समाज एवं दर्शन आदि विषयक विविध लेखों, निबन्धों तथा विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावनाओं का संग्रह। पृष्ठ-संख्या ९४५ : मूल्य : सात रुपये

२. गुजराती : दर्शन चिन्तन भाग १–२

पण्डितजी के क्रान्तदर्शी तथा मौलिक एवं व्यापक दृष्टिकोण के फलस्वरूप समाज और धर्म, जैनधर्म और दर्शन, तत्त्वज्ञान, प्रवास-कथा, आत्मनिवेदन आदि विषयक लेख, निबन्ध एवं प्रस्तावनाएँ आदि—इन लेखों में पण्डितजी की ऐतिहासिक, तुलनात्मक एवं समन्वयगामी नवीन विचारधारा का परिचय हो सकता है। साहित्य अकादमी द्वारा गुजराती भाषा के १९५७ ई० के सर्वोत्तम ग्रन्थ रूपमें पुरस्कृत।

पृष्ठ संख्या १९६८ : दोनों भागों का मूल्य : चौदह रुपये

ज्ञानोदय ट्रस्ट

अनेकान्त विहार (श्रेयस् कॉलोनी के पास), नवरंगपुरा, अहमदाबाद–९ (गुजरात राज्य)